ओ३म्

सांख्यदर्शनम्

कपिलमुनिप्रणीतम्

यच्च

तुलसीराम स्वामिना

सरलभाषानुवादेन सङ्कलय्य

स्वीये

स्वामिमेशीनयन्त्रालये मुद्रयित्वा प्रकाशितम्

मेरठ

सितंबर सन् १९०९ ई०

मूल्यम् १)

ओ३म्

प्रस्तावना

न्याय और योगदर्शन के भाषानुवाद और भाष्य करने के पश्चात् यह विचार कर कि लोग सांख्यदर्शन को अनीश्वरवादी बताते हैं, इस लिये इस दर्शन पर भी अन्य दर्शनों से अविरोध दिखाते हुवे भाष्य लिखने की आवश्यकता है, मैंने इस सांख्यदर्शन का भाष्यारम्भ किया। पाठक इस को आद्योपान्त पढ़ जावें, किसी सूत्र में अन्य दर्शनों से विरोध नहीं पावेंगे। ईश्वर के अस्तित्व का विरोध भी कहीं न पावेंगे। इस भाष्य के बनाने में जो सहायता विज्ञानभिक्षु, महादेव वेदान्ती इत्यादि मुझ से पहले भाष्य और वृत्ति बनाने वालों से मिली है, उस का मैं कृतज्ञ हूं, अन्यथा मादृश अल्पमति से यह संभव न था कि मैं इस कठिन कार्य को पूरा कर सकता। चाहे मैंने इन भाष्यकारों की संमति बहुत स्थानों पर नहीं मानी है, तथापि इन के सहारे से मूल के समझने में बहुत सहायता पाई है॥

श्रीयुत नारायणदलपति भक्त जिन्हों ने समय २ पर मुझे बतलाया कि अमुक २ अन्य दर्शनों से अमुक २ स्थलों पर पुष्टि करो वा विरोधाभास का परिहार करो। तदनुसार मैंने कई अंशों पर किया भी। मैं उन का भी उपकृत हूं॥

तुलसीराम स्वामी—अनुवादक

सूत्र	अशुद्ध	शुद्ध
५	उत्कर्ष्टा०	उत्कर्षा०
६	रूपदिष्टे	रूपादिष्टे
५२	अति प्रसक्ति	अतिप्रसक्ति
६०	सिद्धिर्धूमा०	बोधोधूमा०
९३	बद्धमुक्तयो	मुक्तबद्धयो
१५५	दष्टया	दृष्टया
१७४	भूतानां	पञ्चभूतानां
१८७	(१८७)	२३ (१८७)
१९४	(१९०)	(१९४)
१९८	(९८)	(१९८)
		इस से आगे १०० की भूल ३१४ तक गई है।
२१५	अविवेका	आविवेका
२२७	सूपकारवत्	सूपकारवद्राज्ञः
२६५	दुत्थानम्	दुत्थानात्
३२५	दर्पण	मलिनदर्पण
३६७	प्रतीतेः	प्रतीतिः
,,	होने से	होती है
४२७	न्यथा	प्यन्यथा
५००	सर्पणे	सर्पणेऽपि
५१६	प्रसंगात्	प्रसङ्गान्न तत्सिद्धि
३३	न अस्ति	नास्ति

ओ३म्

अथ सांख्यदर्शन-भाषानुवादः

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥ १ ॥ (१)

अब से त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति=परमपुरुषार्थ (का वर्णन है)॥

अथ शब्द सांख्यदर्शन के इस ६ अध्यायसमुदायरूप पुस्तकमात्र में अधिकारार्थ है अर्थात् यहां से ग्रन्थसमाप्ति तक जो वर्णन है वह सब साक्षात् वा परम्परा से त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिरूप परमपुरुषार्थ का ही व्याख्यान है। १—जो आत्मा=अन्तःकरणमात्र में हों, वे आध्यात्मिक काम क्रोधादि हैं। २—जो भूतों अर्थात् सिंह, व्याघ्र, चोरादि प्राणियों से दुःख हों, वे आदिभौतिक हैं। ३-जो अग्नि, वायु, बिजुली आदि देवों से उत्पन्न दुःख हैं, वे आधिदैविक कहाते हैं। इन तीनों प्रकार के दुःखों में समस्त दुःख आजाते हैं, इन का अत्यन्त निवृत्त करना अत्यन्त पुरुषार्थ=सब से बड़ा यत्न है। संसार के क्षणभङ्गुर भोगों के लिये जो पुरुषार्थ किये जाते हैं वे पुरुषार्थ हैं, परन्तु अत्यन्त पुरुषार्थ वा परमपुरुषार्थ वा सब से बड़ा यत्न नहीं हैं ॥ १ ॥

यदि कहो कि इस शास्त्र के द्वारा अतिसूक्ष्म प्रकृति पुरुष के विवेक की क्या आवश्यकता है? तीनों प्रकार के दुःख तो भोजन पान औषधसेवनादि से ही निवृत्त हो सकते हैं। उत्तर—

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ॥ २ ॥ (२)

दृष्ट=(भोजन पानादि) से उस की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि (दुःख) निवृत्त होकर भी फिर आते देखे जाते हैं ॥

मनुष्य के आध्यात्मिकादि तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्तिरूप सिद्धि सांसारिक दृष्ट पदार्थों से नहीं हो सकती, क्योंकि उन से दुःखनिवृत्ति होते ही तत्काल पुनः दुःख की अनुवृत्ति देखते हैं। कल्पना कीजिये कि एक

मनुष्य को क्षुधारूप दुःख है, उस की निवृत्ति के लिये दोपहर के १२ बजे ८ छटांक भोजन करता है और सायंकाल के ८ बजे दूसरी वार क्षुधा लगती है। उस की निवृत्ति के लिये फिर ८ छटांक भोजन करता है। ऐसा ही नित्य किया करता है। अब विचारना चाहिये कि क्या उस की क्षुधा १२ बजे से ८ बजे तक ८ घण्टे के लिये निवृत्त हो जाती है? कदापि नहीं। क्या उस को सायंकाल के ७ बज कर ५९ मिनट तक क्षुधा न थी? अवश्य थी। अच्छा क्या ६ बजे क्षुधा न थी? अवश्य थी, किन्तु इस से पूर्व न थी? नहीं २ कुछ न कुछ अवश्य थी, किन्तु वह ८ छटांक की क्षुधा जो सायंकाल ८ बजे पूरी क्षुधा हुई है, वह ४ बजे भी चार छटांक की क्षुधा अवश्य थी और एक बजे दोपहर को भी एक छटांक की क्षुधा अवश्य थी। वह क्रमशः एक २ घण्टे में एक २ छटांक बढ़ती आई और बढ़ते २ ठीक आठ बजे पुनः पूर्ववत् पूरी ८ छटांक मांगने लगी। इतना ही नहीं, किन्तु वह १ घण्टे के ६० वें भाग एक मिनट में १ छटांक का ६० वां भाग क्षुधा भी अवश्य थी। मानो जिस समय तृप्त होकर दोपहर को उठे थे उसी समय वह पिशाची क्षुधा साथ २ फिरती और बढ़ती जाती थी। इसी प्रकार अन्य किसी दृष्ट पदार्थ से भी दुःख की सर्वथा निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि सांसारिक समस्त साधन जिन से हम दुःख की निवृत्ति और स्थिर सुख की प्राप्ति की इच्छा करते हैं और इसी प्रयोजन से अनेक प्रकार के कष्ट सह कर भी उन के उपार्जन की चेष्टा करते हैं, वे सब स्वयं ही स्थिर नहीं, किन्तु प्रतिक्षण नाशोन्मुख दौड़े जाते हैं। तब हमें क्या सुख दे सकते हैं? इस लिये दृष्टोपायों से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती ॥ २ ॥ यद्यपि-

प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत्तत्प्रतीकारचेष्टनात्पुरुषार्थत्वम् ॥

॥ ३ ॥ (३)

प्रतिदिन की क्षुधा के प्रतीकार (इलाज) के समान उन (त्रिविध दुःखों) के प्रतीकार की चेष्टा करने से (दृष्ट उपायों को) पुरुषार्थत्व है ॥ ३ ॥ परन्तु-

सर्वाऽसंभवात्संभवेऽपि सत्तासंभवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः

॥ ४ ॥ (४)

जैसे क्षुधा की निवृत्ति भोजन से हो जाती है वैसे प्रथम तो सब दुःखों

की निवृत्ति संभव नहीं, यदि संभव भी हो तौ भी सत्तामात्र रहजाने से प्रमाण कुशल चतुरों को (यह दृष्ट उपाय) त्यागने योग्य है ॥

साधारण लोग भोजन से क्षुधा हटाने के समान अन्य दृष्ट उपाय औषध प्रयोगादि करते हैं सो करो, परन्तु प्रमाणचतुरविवेकी पुरुषों को यह पुरुषार्थ जो सूत्र ३ में कहा है, त्याज्य है। उन को तौ अत्यन्त पुरुषार्थ वा परमपुरुषार्थ ही करना चाहिये क्योंकि (सर्वाऽसंभवात्) सब दुःखों की निवृत्ति के सब उपाय असंभव हैं, हो नहीं सकते क्योंकि असाध्य अवस्था भी आजाती हैं और (संभवेऽपि) यदि हो भी सकें तौ भी दुःखों की (सत्तासंभवात्) सत्ता का संभव ही रहेगा, अतः यह लौकिक दृष्ट उपाय उस अलौकिक सांख्यशास्त्रीय प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञानरूप उपाय के सामने मानने योग्य नहीं, त्यागने ही योग्य हैं ॥ ४ ॥

दृष्टोपाय की त्याज्यता में एक नया हेतु देते हैं कि—

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः* ॥ ५ ॥ (५)

क्योंकि मोक्ष को सब से उत्तम सुना * जाता है अतः उत्तमता से भी (प्रमाण चतुरों को दृष्ट उपाय त्याज्य हैं) ॥

यदि मनुष्य को दो उपाय वा दो फल दीखते हैं, तौ उत्तम उपाय और उत्तम से उत्तम फल के लिये यत्न करना बुद्धिमानी का काम है, बस जब मोक्ष सब से उत्तम फल है तौ विवेकी और चतुर पुरुष को दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति के लिये साधारण पुरुषार्थ नहीं, किन्तु अत्यन्त पुरुषार्थ वा परमपुरुषार्थ ही कर्त्तव्य है ॥ ५ ॥

अविशेषश्चोभयोः ॥ ६ ॥ (६)

दोनों में कोई विशेष नहीं ॥

यह एक ऐसा सूत्र है जिस में सब ही टीका वा भाष्यकारों को अध्याहार करना पड़ा है और वह दो प्रकार से किया है। **दोनों में विशेष नहीं** इस में यह जानना सब कोई चाहेगा कि **किन दोनों में विशेष नहीं ?**

---

* छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ८ खण्ड १२।१ में यह श्रुति है कि—**न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः**=निश्चय शरीर रहित हुए (मुक्त जीव) को सुख दुःख नहीं छूते ॥ और बृहदारण्यक अ० ६ ब्राह्मण ३—३२ में लिखा है कि—एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपत्=यह इस (जीव) की सब से बढ़ कर गति और यह इस की सब से बढ़िया संपत्ति है ॥

इस पर विज्ञानभिक्षु, स्वामी हरिप्रसाद जी, कारिकाकार ईश्वरकृष्ण, उस के भाष्यकार गौड़पादाचार्य इत्यादि अनेक लोगों का मत तो यह है कि—

१-दृष्ट=भोजन पथ्य औषधसेवनादि, २-अदृष्ट=वैदिक यज्ञादि कर्मकाण्ड भेद से लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के कर्म वा पुरुषार्थ मोक्ष के साधक नहीं और दोनों इस मोक्ष के प्रति साधारण एक से हैं, उन में कोई विशेष नहीं, अतः प्रकृति और पुरुष का विशेष विवेकज्ञान ही मोक्ष का साधन वा परम पुरुषार्थ है ॥

बात ठीक भी है क्योंकि काम्य वा सकाम वैदिक कर्मों का अनुष्ठान भी सांसारिक सुखभोगदायक रहो, परन्तु मोक्षदायक नहीं, मोक्षदायक तो केवल आत्मज्ञान है, ऐसा वेदों और न्याय वैशेषिक वेदान्त योग इत्यादि सब वैदिक दर्शनों का सिद्धान्त है। किन्तु एक महादेव वेदान्ती जी अपनी वृत्ति में यह कहते हैं कि—

जिस को हटाकर मोक्ष प्राप्ति के लिये शास्त्र की प्रवृत्ति है, वह बन्ध स्वाभाविक हो वा नैमित्तिक दोनों दशा में मोक्ष तो उत्कृष्ट अर्थात् श्रेष्ठ है उस के लिये परमपुरुषार्थ करना ही चाहिये ॥

इन महाशय ने अगले सूत्र ७ से जो न स्वभावतोबद्धस्य इत्यादि पक्ष कहे जायंगे, उन का अध्याहार किया है, सो भी अयुक्त नहीं ॥

तीसरा अध्याहार यह भी हो सकता है कि सूत्र ४ के अनुसार सम्भव असम्भव दोनों में विशेष नहीं। क्योंकि जैसे दृष्टोपायों से सर्वदुःखनिवृत्ति को असम्भव मानने पर परमपुरुषार्थ कर्त्तव्य रहजाता है, वैसे ही सम्भव मानने पर भी सत्तासम्भव से परमपुरुषार्थ कर्त्तव्य रहता है। परमपुरुषार्थ की कर्त्तव्यता दोनों दशा में समान होने से विशेष कुछ नहीं ॥ ६ ॥

अब बन्ध के स्वाभाविक मानने में दोष देते हैं:—

न स्वभावतोबद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ॥ ७ ॥ (७)

स्वभाव से बद्ध (पुरुष) को मोक्ष के साधन का उपदेश विधान नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ क्योंकि—

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षण-मप्रामाण्यम् ॥ ८ ॥ (८)

स्वभाव के नाशरहित होने से (उस पर) अनुष्ठान न होसकना रूप अप्रामाण्य है ॥

जब स्वभाव का नाश नहीं हो सकता तो स्वाभाविक बद्ध जीव कभी मुक्त न हो सकेगा, जब मुक्त न हो सकेगा तो कोई जीव भी इस दशा में मोक्ष के साधनों का अनुष्ठान (अमल) न कर सकेगा, जब अनुष्ठान न हो सकेगा तो जो शास्त्र अनुष्ठान का उपदेश करता है वह शास्त्र प्रामाणिक नहीं क्योंकि व्यर्थ है ॥ ८ ॥ यदि कहो कि कोई अनुष्ठान न करो, पर शास्त्र तो सुझा देवे, तो उत्तर यह है कि—

नाऽशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेप्यनुपदेशः ॥ ९ ॥ (९)

अशक्य के लिये उपदेश करना ठीक नहीं, (क्योंकि) उपदेश किया भी अनुपदेश है ॥

जो बात हो न सके उस के लिये उपदेश करना, न करने के बराबर होने से व्यर्थ है ॥ ९ ॥ शङ्का—

शुक्लपटवद्बीजवच्चेत् ॥ १० ॥ (१०)

यदि श्वेतवस्त्र और बीज के तुल्य (कहो) ॥

अर्थात् यदि कहो कि जैसे स्वाभाविक श्वेत वस्त्र भी रङ्गने से श्वेत नहीं रहता, और जैसे बीज की स्वाभाविक भी अङ्कुर उपजने की शक्ति ऊषर भूमि में बोने से नहीं रहती, ऐसे ही स्वाभाविक बन्धन भी शास्त्रोपदेशानुकूल अनुष्ठान से नष्ट होकर मोक्ष हो सकेगा ? ॥ १० ॥ तो उत्तर यह है कि—

शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ॥ ११ ॥ (११)

शक्ति के प्रादुर्भाव तिरोभाव से अशक्योपदेश नहीं ॥

श्वेत वस्त्र की श्वेतता रङ्ग देने से केवल ढक जाती वा छिप जाती वा तिरोभूत हो जाती है, नष्ट नहीं हो जाती, इस लिये धोबी बहुत यत्न करे तो रङ्ग छूटकर फिर प्रकट हो जाती है । ऐसे ही अङ्कुर उत्पन्न करने की बीजस्थ शक्ति भी ऊषर (विना उपजाऊ) भूमि में स्थित आवरणों से ढककर छिपकर वा तिरोभूत होकर प्रतीत नहीं होती, किन्तु ऊषर भूमिस्थ आवरण दोषों को दूर करदें तो वही शक्ति प्रकट होजासकती है । इस लिये यह अशक्योपदेश नहीं ॥

अन्य सब टीकाकार **बीजवत्** का व्याख्यान यह करते हैं कि जैसे बीज को अग्नि में फूंक देने से उस की स्वाभाविक भी अङ्कुरोत्पादन शक्ति नष्ट होजाती है। और ११ वें समाधान सूत्र के द्वारा समाधान करते हैं कि योगी के संकल्प से जैसे फुंके हुवे बीज की भी शक्ति पुनः अङ्कुर उत्पन्न कर सकती है इस लिये स्वाभाविक का नाश नहीं, केवल तिरोभावमात्र है॥

यह व्याख्या यद्यपि विज्ञानभिक्षु भाष्यकार, महादेव वेदान्ती वृत्तिकार, इत्यादि प्राचीन नवीन सभी टीकाकार करते हैं परन्तु हम को फिर भी भावती नहीं। क्योंकि जिस प्रकार वस्त्र की श्वेतता जो रङ्ग से दब गई है वह तब तक ही उजला कर फिर प्रकट हो सकती है जब तक वस्त्र रहे. वस्त्र ही न रहे तो श्वेतता उस की कहां रहे। इसी प्रकार अग्नि में फूंक देने से बीज ही नहीं रहता फिर उस की अङ्कुरोत्पादन शक्ति का तिरोभाव मात्र किस में माना जावे? यह ठीक है कि धर्म धर्मी में वा गुण गुणी में प्रकट वा छिपा रहता है परन्तु जब गुणी वा धर्मी ही न रहे तब गुण वा धर्म छिपा हुवा रहना मानना कैसा असंगत है, समझने की बात है। सूत्र में **बीजवत्** शब्द है, उस की व्याख्या में अग्निदग्ध बीज को लक्ष्य करना कुछ आवश्यक भी नहीं। संभव असंभव दो अर्थों में संभवाऽर्थ का ग्रहण करना ठीक है॥ ११॥

न कालयोगतोव्यापिनोनित्यस्य सर्वसंबन्धात् ॥१२॥ (१२)

काल के संयोग से भी (बन्धन) नहीं हो सकता क्योंकि काल तो नित्य और व्यापी और सब से संबन्ध रखता है॥

यदि कहा जावे कि काल से बन्धन है, सो भी नहीं, क्योंकि काल तो नित्य है, उस का बन्धन होता तो कभी कोई मुक्त न हो सक्ता, काल व्यापी है और सब से संबन्ध रखता है, बद्ध से भी और मुक्त से भी॥ १२॥

न देशयोगतोऽप्यस्मात्॥ १३॥ (१३)

इसी हेतु से देश के योग से भी (बन्धन) नहीं बनता॥

क्योंकि बद्ध और मुक्त सभी देश में रहते हैं, देश भी काल के समान नित्य, और व्यापी होने से सब से संबन्ध रखता है॥ १३॥

नाऽवस्थातोदेहधर्मत्वात्तस्याः ॥ १४ ॥ (१४)

अवस्था से भी (बन्ध) नहीं, क्योंकि वह (अवस्था) देह का धर्म है (पुरुष का नहीं) ॥

बाल्य यौवन वृद्धता आदि वा स्थूलत्व कृशत्वादि अवस्थाओं से बन्धन इस कारण नहीं हो सकता कि ये तो देह के धर्म हैं, न कि आत्मा वा पुरुष के ॥ १४ ॥ क्योंकि—

असंगोऽयं पुरुष इति ॥ १५ ॥ (१५)

यह पुरुष तो सङ्गरहित है ॥

सङ्ग वाले पदार्थों की अवस्था बदलती है, क्योंकि उन में कभी कुछ जुड़ जाता है, कभी कुछ उन से निकल जाता है । इसी उपचय अपचय से अवस्थायें होती हैं । पुरुष तो उपचयाऽपचयरहित असङ्ग है, अतः उस की कोई अवस्था नहीं, जब अवस्था ही नहीं तो अवस्थाकृत बन्धन क्योंकर संभव हो ॥ १५ ॥

न कर्मणाऽन्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ॥ १६ ॥ (१६)

कर्म से (भी बन्धन) नहीं, क्योंकि (कर्म) अन्यधर्म है और अति प्रसङ्ग दोष भी होगा ॥

कर्म से बन्धन माने तो भी ठीक नहीं, क्योंकि कर्म तो अन्य का धर्म है, अर्थात् देह का धर्म है, आत्मा का नहीं, जो अन्य के कर्म से अन्य का बन्धन माने तो अतिप्रसङ्गदोष होगा अर्थात् बद्धों के कर्मों से मुक्तों को भी बन्धन आदि अव्यवस्था होगी, अतएव कर्म को भी बन्ध का हेतु नहीं कह सकते ॥ १६ ॥

विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ॥ १७ ॥ (१७)

अन्यधर्म मानने में विचित्र भोगों की सिद्धि नहीं बनती ॥

जब अपने २ कर्मानुसार फल न मान कर किसी के कर्म से किसी को भी फल भोग हो तो सब को एक से ही भोग क्यों न मिल जावें । अपने २ कर्मानुसार भोग होने में तो न्याय है, पर अन्य के कर्म से फल अन्य को भोगाया जावे तो न्यायानुसार सब को एक सा भोग होना चाहिये । पर हम देखते

हैं कि सब को एकसा फलभोग नहीं, विचित्र अर्थात् भिन्न २ प्रकार का भोग है। सो यह विचित्र भोग अन्यधर्म मानने में बन नहीं सकता ॥ १७ ॥

प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न, तस्या अपिपारतन्त्र्यम् ॥ १८ ॥ (१८)

यदि प्रकृति के बन्धन से (जीव=पुरुष को बन्धन कहैं तो भी) नहीं, क्योंकि उस (प्रकृति) को भी परतन्त्रता है ॥

पुरुष स्वतन्त्र और प्रकृति परतन्त्र है, इस लिये परतन्त्र प्रकृति से स्वतन्त्र पुरुष क्यों बन्धे ॥ १८ ॥

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ॥१९॥(१९)

नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव (पुरुष) को उस (बन्ध) का योग नहीं हो सकता, विना उस (प्रकृति) से संबन्ध के ॥

पुरुष तो स्वभाव से शुद्ध है उस में सत्त्व, रज, तम कोई गुण नहीं। गुण प्रकृति में हैं। वह तो स्वरूप से बुद्ध है क्योंकि चेतन है, जडता प्रकृति में है। वह स्वरूप से मुक्त है क्योंकि केवल पुरुष ही पुरुष हो तो बन्धन संभव नहीं, ऐसे पुरुष को विना प्रकृति का योग हुवे बन्ध का योग हो नहीं सकता। पूर्व सूत्र में जो प्रकृति को परतन्त्र कहा था सो ठीक है, परन्तु अविवेक से अल्पज्ञ पुरुष प्रकृति के बन्धन में पड़ जाता है और इस प्रकार पुरुष को प्रकृति के कार्य महत् अहङ्कारादि की उपाधि घेर लेती है और यह घिर जाता है, तब इस को देहादि उपाधि वाला औपाधिक बन्धन हो जाता है ॥ जिस की निवृत्ति के लिये शास्त्र द्वारा अविवेक को विवेक से हटा कर पुनः मुक्ति का यत्न करना आवश्यक है ॥

यदि कहो कि इस सूत्र में तो अविवेक शब्द नहीं, फिर अविवेक से प्रकृति के योग का अर्थ क्यों किया गया ? उत्तर यह है कि विना अविवेक के परतन्त्र प्रकृति से स्वतन्त्र पुरुष का बन्धन संभव नहीं, इस लिये हम ने अविवेक शब्द आचार्य के तात्पर्य की पूर्त्यर्थ बढ़ाया है। आचार्य का तात्पर्य आगे इसी अध्याय के ५५ वें सूत्र में आचार्य ने अपने शब्दों में स्वयं भी बताया है कि—तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् १। ५५ जिस में स्पष्ट अविवेकात् शब्द है ॥ १९ ॥

नाऽविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धाऽयोगात् ॥ २० ॥ (२०)

अविद्या से भी (बन्धन) नहीं क्योंकि अवस्तु से बन्धन संभव नहीं ॥

विद्या वस्तु है, अविद्या कोई वस्तु नहीं, अविद्या तौ विद्या का न होना मात्र है। जब अविद्या कोई वस्तु नहीं, अवस्तु है तौ अवस्तु अविद्या से कोई बन्ध नहीं सक्ता ॥ और—

वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः ॥ २१ ॥ (२१)

वस्तु हो तौ सिद्धान्त की हानि है ॥

यदि अविद्या को वस्तु माना जावे तौ सिद्धान्त की हानि है क्योंकि अविद्या का वस्तु न होना सिद्धान्त है ॥ २१ ॥

विजातीयद्वैतापत्तिश्च ॥ २२ ॥ (२२)

और विजातीय द्वैत की आपत्ति भी है ॥

यदि अविद्या को वस्तु मानलें तौ एक ही चेतन सत्ता से भिन्न दूसरी चेतनसत्ता अविद्या होगई इस कारण द्वैत दोष आया और द्वैत भी कैसा कि विजातीय। सजातीय द्वैत तौ पुरुषों की असंख्यता से मान ही सकते हैं, परन्तु अविद्या को वस्तु मानने से विजातीय द्वैत मानना पड़ेगा, जो कि चेतन का विजातीय द्वैत तुम को इष्ट नहीं है ॥

यद्यपि सांख्य योग न्याय वैशेषिक वेदान्त और मीमांसा वेदानुकूल सब छहों दर्शनों का मत है कि अविवेक से बन्धन है और अविद्या=अविवेक एक हैं, पर यहां उन के मत का निराकरण किया है जो विज्ञान मात्र एक ही पदार्थ मानते हैं, इन लोगों के मत में अन्य कोई विजातीय पदार्थ ही नहीं है, न पुरुष है ॥ इस सूत्र से एक प्रकार से मायावाद का भी खण्डन है, जिस को विज्ञानभिक्षु भी लिखते हैं कि—

यत्तु वेदान्तिब्रुवाणामाधुनिकस्य मायावादस्याऽत्र लिङ्गं दृश्यते तत्तेषामपि विज्ञानवादैकदेशितया युक्तमेव।

"मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि! कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥"

इत्यादि पद्मपुराणस्थशिववाक्यपरम्पराभ्यः।

न तु तद्वेदान्तमतम्।

"वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् ।"

इति तद्वाक्यशेषादिति । मायावादिनोऽत्र च न साक्षात् प्रतिवादित्वं विजातीयेतिविशेषणवैयर्थ्यात् । मायावादे सजातीयाऽद्वैतस्याऽप्यऽनभ्युपगमादिति । तस्मादत्र प्रकरणे विज्ञानवादिनां बन्धहेतुव्यवस्थैव साक्षान्निराक्रियते । अनयैव च रीत्या नवीनानामपि प्रच्छन्न बौद्धानां मायावादिनामविद्यामात्रस्य तुच्छस्य बन्धहेतुत्वं निराकृतं वेदितव्यम् । अस्मन्मते तु अविद्यायाः कूटस्थनित्यतारूपपारमार्थिकत्वाऽभावेऽपि घटादिवद्वास्तवत्वेन वक्ष्यमाणसंयोगद्वारा बन्धहेतुत्वे यथोक्तबाधाऽनवकाशः । एवं योगमते ब्रह्ममीमांसामतेऽपीति ॥

अर्थ—जो कि अपने को वेदान्ती कहने वालों के आधुनिक मायावाद का चिन्ह दीखता है वह उन का भी विज्ञानवादियों के एकदेशी होने से ठीक ही है—

मायावादमसच्छास्त्रम्०

"मायावाद असत् शास्त्र जो छिपा हुआ बौद्धमत ही है, सो हे देवि ! कलियुग में ब्राह्मणरूपधारी मैं ने ही वर्णन किया है" इत्यादि पद्मपुराण के शिव जी के वचनों की परम्पराओं से । परन्तु यह वास्तव में वेदान्त मत नहीं है । क्योंकि उसी पद्मपुराण में वाक्यशेष है कि "वेदार्थ के समान महाशास्त्र मायावाद अवैदिक है" । इस सूत्र में विजातीय विशेषण की व्यर्थता से साक्षात् मायावादी को प्रतिवादीपना नहीं है क्योंकि मायावाद में तो सजातीय द्वैत भी नहीं माना गया है । इस कारण इस प्रकरण में विज्ञानवादियों की बन्धहेतुव्यवस्था का ही साक्षात् खण्डन है । और इसी रीति से छिपे बौद्धों=नवीन वेदान्तिब्रुव मायावादी लोगों के तुच्छ अविद्यामात्र को बन्धहेतुत्व का भी खण्डन किया समझिये । और हमारे (विज्ञान भिक्षु के) मत में तो अविद्या के कूटस्थ नित्यतारूप पारमार्थिकत्व न होने पर

भी घटादि के तुल्य वास्तवत्व से आगे कहेजानेवाले संयोग द्वारा बन्धहेतु होने पर उक्त दोष को अवकाश नहीं ॥

इसी प्रकार योगदर्शन और वेदान्तदर्शन के मत में भी (दोषाऽवकाश नहीं)॥

इस विज्ञानभिक्षु के भाष्य से जाना जाता है कि मायावादी आधुनिक नवीन वेदान्तियों को जो स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थ प्रकाश में नवीन वेदान्ती कहा है वह कुछ स्वामी दयानन्द का नया आक्षेप नहीं किन्तु विज्ञानभिक्षु सरीखे पूर्वज लोग भी इन को नवीन बताते आते हैं। तथा स्वामी दयानन्द ने जो नवीनों को पञ्चमकोटि का नास्तिक बताया है, यह बात भी नई नहीं क्योंकि विज्ञानभिक्षु और पद्मपुराण भी इन को छिपा बौद्ध बताते हैं ॥ २२ ॥

विरुद्धोभयरूपा चेत् ॥ २३ ॥ (२३)

यदि उभयविरुद्धरूप (अविद्या) है तो—

न, तादृक्पदार्थाऽप्रतीतेः ॥ २४ ॥ (२४)

नहीं, क्योंकि वैसा पदार्थ (कोई) प्रतीत नहीं होता ॥

अर्थात् यदि कोई अविद्या को वस्तु अवस्तु दोनों प्रकार की, वा दोनों से विरुद्ध विलक्षण तीसरे प्रकार की मान कर बन्धहेतु सिद्ध करे, सो भी नहीं बनता क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ है ही नहीं जो वस्तु अवस्तु दोनों विरुद्धरूप वाला वा दोनों से विरुद्ध तीसरे विलक्षण रूप वाला हो ॥२४॥ यदि कहो कि—

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत् ॥२५॥ (२५)

हम वैशेषिकादि के समान षट्पदार्थवादी नहीं हैं ॥

अर्थात् यदि कोई ऐसा पक्ष उठावे कि हम पदार्थों की नियत छः वा सोलह संख्या नहीं मानते, जिस से अविद्या को सदसद्विलक्षणा वा विरुद्धोभयरूपा न मान सकें, फिर अविद्या के बन्धहेतुत्व में क्या बाधा है ? तो उत्तर यह है कि—

अनियतत्वेऽपि नाऽयौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम् ॥ २६ ॥ (२६)

(छः वा सोलह इत्यादि) नियत संख्या न होने पर भी अयौक्तिक का

संग्रह (स्वीकार) नहीं कर सकते, नहीं तो बालकों वा उन्मत्तों के समान हो जायंगे ॥

अर्थात् तुम वैशेषिक के समान ६ पदार्थों वा गोतम के समान १६ पदार्थों की नियत संख्या न भी मानो, तो भी युक्तियुक्त ही पदार्थ तो मानोगे, अयौक्तिक तो नहीं मान सकते, और किसी पदार्थ का वस्तु अवस्तु दोनों से विलक्षण मानना अयौक्तिक है, युक्तिसंगत नहीं है, इस लिये विरुद्धोभयरूपा चेत् सूत्र में कही शङ्का नहीं बन सकती। यदि अयौक्तिक बात भी मानी जावे तो बालकों और उन्मत्तों (पागलों) के समान वे लोग भी रहे, जो ऐसे अयौक्तिक वाद को स्वीकार करें ॥ २६ ॥

नाऽनादिविषयोपरागनिमित्ततोऽप्यस्य ॥ २७ ॥ (२७)

अनादि विषयवासना से भी इस (जीव) को (बन्ध) नहीं हो सक्ता ॥ २७ ॥ क्योंकि—

न बाह्याऽभ्यन्तरयोरुपरज्योपरञ्जकभावोऽपि देशव्यवधानात्, स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ॥ २८ ॥ (२८)

बाह्य और आभ्यन्तर का उपरञ्ज्य उपरञ्जकभाव भी नहीं हो सकता, देश के व्यवधान से, जैसे स्रुघ्न (आगरा) और पाटलिपुत्र (पटना) में स्थितों का ॥

पुरुष तो देह के भीतर रहा, विषय देह के बाहर रहे, तब इन दोनों में देश का व्यवधान (अन्तर) रहने से विषयों की वासना पुरुष को रङ्ग नहीं सकती। जो रंगा जाय वह उपरञ्ज्य और जिस से रंगा जावे उस को उपरञ्जक कहते हैं। जैसे स्फटिक उपरञ्ज्य और रक्त पुष्प उपरञ्जक है तो जब स्फटिक के और रक्त पुष्प के बीच में व्यवधान न हो तब स्फटिक पर रक्त पुष्प की रङ्गत पड़ती है, किन्तु जब दोनों में अन्तर हो तब नहीं। जैसे एक स्फटिक पटने में हो और रक्त पुष्प आगरे में तो उस पुष्प की रङ्गत का आभास पटने के स्फटिक पर नहीं हो सकता क्योंकि देश का व्यवधान है। ऐसे ही पुरुष देह के भीतर और विषय देह के बाहर और बीच में देह का व्यवधान है, इस दशा में पुरुष उपरञ्ज्य और विषय उपरञ्जक हो नहीं सकते। तब विषयों के अनादि उपराग से भी बन्ध नहीं हो सकता ॥ २८ ॥

यदि कहो कि पुरुष भीतर ही नहीं किन्तु बाहर भी है और इस कारण विषयों का उपराग उस पर हो सकता है। तो उत्तर यह है कि—

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था ॥ २९ ॥ (२९)

दोनों को एकदेश में लब्ध उपराग से व्यवस्था नहीं रहती ॥

यदि ऐसा हो तो देह के बाह्य विषयों का उपराग जैसे बद्ध पुरुष के बन्ध का हेतु हो, वैसे मुक्त पुरुष के बन्ध का हेतु भी हो सकता है, तब बद्ध मुक्त दोनों में व्यवस्था नहीं रहती कि कौन बद्ध और कौन मुक्त है ॥२९॥

अदृष्टवशाच्चेत् ॥ ३० ॥ (३०)

यदि अदृष्टवश से (व्यवस्था मानो तो)—उत्तर—

न द्वयोरेककालाऽयोगादुपकार्योपकारकभावः ॥ ३१ ॥ (३१)

दोनों के एककाल में योग न होने से उपकार्य उपकारक भाव नहीं हो सकता ॥

यदि कोई ३० सूत्रोक्त शङ्का करे कि अदृष्ट (प्रारब्ध) वश से देह के बाह्य विषयों का उपराग बद्ध पुरुष के समान मुक्त को नहीं हो सकता, तो ३१ वां सूत्र कहता है कि कर्त्ता पुरुष और भोक्ता पुरुष ये दोनों क्षणिकों के मत में एककालीन नहीं, पूर्वक्षण में कर्त्ता (चित्त) उत्तरक्षणभावी भोक्ता से भिन्न है, तब दोनों (कर्त्ता भोक्ता) एक साथ न रहे, इस दशा में दोनों में उपकार्य उपकारक भाव नहीं हो सकता । जिस पर उपकार हो वह उपकार्य और जो उपकार करे वह उपकारक होता है । भला फिर जब कर्त्ता और भोक्ता एक काल में न हुवे, भिन्न २ कालों में पूर्व पर भेद से हुवे तो पूर्वकालस्थ कर्त्ता के अदृष्ट प्रारब्ध का उपकार उत्तरकालस्थ भोक्ता पर कैसे हो सक्ता है । इस लिये अदृष्ट से भी व्यवस्था नहीं बनती ॥ ३१ ॥

पुत्रकर्मवदिति चेत् ॥ ३२ ॥ (३२)

यदि पुत्र के (गर्भाधानादि संस्कार) कर्म के तुल्य (कहो तो)—

अर्थात् यदि कोई कहे कि जैसे गर्भाधानादि संस्कारों से पुत्र का कर्म (संस्कार) पिता करता है और उस से पुत्र का उपकार होता है, यद्यपि पुत्र पश्चात् काल में और पिता पूर्व काल में है, ऐसे ही कर्त्ता भोक्ता दोनों एक काल में नहीं तो भी एक कर्त्ता दूसरे भोक्ता का उपकार कर सकता है, तो दोनों में उपकार्योपकारक भाव क्यों नहीं हो सकता ? तो उत्तर यह है कि—

न, अस्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा योगर्भाधानादिना संस्क्रियते ॥ ३३ ॥ (३३)

नहीं, क्योंकि वहां (वैदिकमत में) एक स्थिर आत्मा (पुरुष) है जो गर्भाधानादि से संस्कृत किया जाता है ॥

वैदिक लोग जो संस्कारों से पुत्र का उपकार करते हैं वे क्षणिकवादी नहीं है, वे तो पुत्र का एक स्थिर आत्मा मानते हैं जो कि संस्कारों के प्रभाव से उपकृत किया जाता है, अतः उन का दृष्टान्त क्षणिकवादी को लाभदायक नहीं हो सकता ॥

दूसरा अन्वय यह है जो पहले संस्कृत भाष्य और टीका करने वालों ने लगाया है कि (तत्र) वहां तुम क्षणिकों के मत में स्थिर एक आत्मा नहीं है जो गर्भाधानादि संस्कारों से संस्कृत किया जावे, इस से उन के मत में पुत्रसंस्कारकर्म भी नहीं बनता फिर वे उस का दृष्टान्त देकर क्या लाभ उठा सकते हैं। दोनों अन्वयों से भाव एक ही निकलता है ॥ ३३ ॥

अब क्षणिकवादी का पूर्वपक्ष फिर दिखाते हैं:-

स्थिरकार्याऽसिद्धेः क्षणिकत्वम् ॥ ३४ ॥ (३४)

स्थिर कार्य की असिद्धि से क्षणिकपना है ॥

कोई किसी पदार्थ को स्थिर सिद्ध नहीं कर सकता, सभी पदार्थ पूर्व क्षण से अगले क्षण में बदल जाते हैं इस लिये क्षणिकवाद ठीक है, तदनुसार एक स्थिर आत्मा भी कोई नहीं, वह भी क्षणिक बुद्धि मात्र है ॥३४॥ उत्तर-

न, प्रत्यभिज्ञाबाधात् ॥ ३५ ॥ (३५)

प्रत्यभिज्ञा से बाधा होने से (क्षणिकत्व) नहीं है ॥

जिस को मैंने देखा था उसी को छूता हूं। वा, जिस देवदत्त को १० वर्ष पूर्व काशी में देखा था, उसी को अब मथुरा में देखता हूं। ऐसे पूर्वाऽनुभूत विषय का स्मरण करके उसी प्रत्यय का पुनः होना=प्रत्याभिज्ञा कहाती है। यदि पुरुष का आत्मा ज्ञाता क्षणिक होता और क्षण २ में बदलता तो १० वर्ष की याद (प्रत्यभिज्ञा) तो क्या, पूर्व क्षण की याद भी किसी को न होती ॥ ३५ ॥ आगे दूसरा दोष देते हैं:-

श्रुतिन्यायविरोधाच्च ॥ ३६ ॥ (३६)

श्रुति और न्याय के विरोध से भी (क्षणिकत्व नहीं बनता) ॥

सदेव सौम्येदमग्रे० छान्दोग्य ६ । २ । १ की श्रुति में सत् ही कारण माना है असत् नहीं। तथा-कथमसतः सज्जायेत छां० ६ । २ । १ इस श्रौतन्याय में असत् से सत् कैसे हो सक्ता है, यह न्याय युक्ति दी है। इन दोनों से विरुद्ध क्षणिकवाद है, क्योंकि क्षणिकों के मत में प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण पश्चात् न रहे तो असत् से सत् मानना होगा जो श्रुति और न्याय के विरुद्ध है ३६

यदि कहो कि श्रुति और न्याय से पदार्थों का सत् होना पाया जाता है, न कि क्षणिक न होना, सो तो हमारे अनुकूल है, तो उत्तर यह है:—

दृष्टान्ताऽसिद्धेश्च ॥ ३७ ॥ (३७)

दृष्टान्त की सिद्धि न होने से भी (क्षणिकवाद नहीं बनता) ॥

दीपशिखा आदि जिन दृष्टान्तों में तुम क्षणिकवाद बताते हो वे दृष्टान्त भी सिद्ध नहीं क्योंकि बहुत शीघ्र बदलने वाले क्षणों में एक से अधिक क्षण तक रहने वाली भी दीपशिखा, क्षणिकत्व का भ्रममात्र उत्पन्न करती है, वास्तव में क्षणिक नहीं। इसी प्रकार अन्य दृष्टान्तों में क्षणिकत्व नहीं बनता ॥ ३७ ॥

क्षणिकवाद में कार्य कारण भाव भी नहीं बनेगा, क्योंकि:—

युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः ॥ ३८ ॥ (३८)

एक साथ होने वाले दो पदार्थों में (परस्पर) कार्य कारण होना नहीं बनता॥

जैसे गौ के दो सींग एक साथ होते हैं, तो कोई नहीं कह सकता कि दहिना सींग कार्य और बायां कारण है, वा बायां कार्य और दहिना कारण है॥३८॥ यदि कहो कि हम आगे पीछे वालों को कारण कार्य मानते हैं तो—

पूर्वाऽपाये उत्तराऽयोगात् ॥ ३९ ॥ (३९)

पहले के नाश में अगले का योग नहीं हो सकता ॥

क्षणिकों के मत में पहला मृत्तिका पदार्थ क्षणिक है सो अगले क्षण में नष्ट होजाता है, फिर वह घट कार्य का कारण नहीं होसकता ॥४०॥ और—

तद्भावे तदऽयोगादुभयव्यभिचारादपि न ॥ ४० ॥ (४०)

पूर्व के भाव में उत्तर का और उत्तर के भाव में पूर्व का भाव न रहने से दोनों में व्यभिचार हुवा, इस से भी (कार्य कारण भाव) नहीं बनता ॥

क्षणिक वादानुसार जब मृत् कारण है, तब घट कार्य नहीं, जब घट कार्य है तब मृत् कारण नहीं, अर्थात् कार्य कारण में सहचार नहीं, व्यभिचार है. तब यह कैसे कहा जावे कि घट कार्य और मृत् उस का नियत उपादान कारण है ॥ ४० ॥ यदि कहो कि जो पहले से था वह कारण और जो पीछे से हो वह कार्य मानेंगे, चाहे कार्यकाल में कारण नहीं रहता, इस प्रकार हमारे क्षणिक वाद में कार्य कारणभाव बन जायगा, तो उत्तर—

पूर्वभावमात्रे न नियमः ॥ ४१ ॥ (४१)

पहले होनामात्र मानो तो नियम न रहेगा ॥

जो पहले हो वह कारण और पीछे हो सो कार्य, यदि इतना मात्र मानो तो यह नियम न रहेगा कि घट का कारण मृत् ही है, कोई कह सकेगा कि घट से पहले वर्त्तमान सून घट का कारण है, या वस्त्र से पहली मृत्तिका वस्त्र का कारण है, यूं तो नियम कोई न रहा, अन्धेर होगया कि बस जो किसी से पूर्वकाल में हो वह किसियों उत्तर कालस्थपदार्थ का कारण होजासकेगा ॥ ४१ ॥

क्षणिकों का खण्डन करचुके, अब विज्ञानवादियों का खण्डन करते हैं कि-

न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः ॥ ४२ ॥ (४२)

केवल विज्ञान ही (वस्तु) नहीं क्योंकि बाह्य पदार्थ प्रतीत होते हैं ॥

अर्थात् यदि विज्ञानवादी कहें कि बन्ध का कारण क्यों ढूढते हो, बन्ध भी विज्ञानमात्र है अर्थात् एक ख़याल महज़ है । वास्तव में विज्ञान (ख़याल) के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तो इस का उत्तर सूत्रकार देते हैं कि बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं अतः वे पदार्थ सत्य हैं केवल विज्ञानमात्र नहीं ॥४२॥

तदऽभावे तदऽभावाच्छून्यं तर्हि ॥ ४३ ॥ (४३)

उस (बाह्य) के अभाव में उस (विज्ञान) का अभाव होने से तो शून्य हुवा ॥

यदि कोई प्रतीत होते हुवे भी बाह्य पदार्थों का अभाव माने और कहे कि स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं, वास्तव में कुछ नहीं तो इस से विज्ञान का भी अभाव कोई कह सकेगा, तब तो शून्य (कुछ नहीं) मानना पड़ेगा ?

तो अब शून्यवादी का पक्ष खड़ा करते हैं कि-

* शून्यं तत्त्वं, भावो विनश्यति, वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥ ४४ ॥ (४४)

शून्य तत्व है, भाव नष्ट होजाता है, क्योंकि नाश वस्तु का धर्म है ॥४४॥ उत्तर-

* अपवादमात्रमऽबुद्धानाम् ॥ ४५ ॥ (४५)

बेसमझों का वृथा कथनमात्र है ॥

विनाश प्रत्येक वस्तु का धर्म नहीं है, केवल सावयव पदार्थ वा वस्तु में नाश देखा जाता है, निरवयव पदार्थ वा एकाऽवयव पदार्थ में नाश नहीं है, जैसे ईश्वर, जीव वा प्राकृत परमाणु का नाश नहीं। जब कि सूत्र ४४ का दिया हेतु (क्योंकि नाश वस्तु का धर्म है) ठीक नहीं, किन्तु सव्यभिचार हेतु है, तब उस असत् हेतु से सिद्ध किया जाने वाला शून्यवाद कैसे ठीकहो सकता है ? ॥ ४५ ॥ तथा च-

* उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ॥ ४६ ॥ (४६)

दोनों पक्षों में समान रक्षा से यह (शून्य पक्ष) भी (ठीक नहीं) ॥

जैसे क्षणिक बाह्यार्थ और क्षणिक विज्ञान ये दोनों पक्ष रक्षा में कसे हैं, उन ही के समान यह शून्यपक्ष भी त्याज्य है ॥ जैसे क्षणिक बाह्यार्थ पक्ष में और क्षणिक विज्ञान वाद में प्रत्यभिज्ञा दोष था और यह प्रत्यभिज्ञा (पहचान) नहीं बनती थी कि " जिस को मैंने काशी में देखा था उसी को आज मथुरा में देखता हूं " इत्यादि । इसी प्रकार शून्यवाद में भी पहचान नहीं हो सकती, क्योंकि जिस देवदत्त को काशी में देखा था वह तो नाश के वस्तुधर्म होने से नष्ट होगया, फिर मथुरा में वह कहां से आया, शून्यवाद के अनुसार वह तो नष्ट हो चुका। परन्तु प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा पहचान होती देखी जाती है, जो शून्यवाद में बन नहीं सकती। अतएव शून्यवाद में भी क्षणिक बाह्यार्थऔर क्षणिक विज्ञान के तुल्य प्रत्यभिज्ञा दोष से रक्षा नहीं हो सकती इस लिये यह पक्ष भी ठीक नहीं ॥ ४६ ॥ और भी-

* अपुरुषार्थत्वमुभयथा ॥ ४७ ॥ (४७)

अपुरुषार्थता दोनों प्रकार है ॥

जैसे क्षणिकों के मत में पुरुषार्थ व्यर्थ है, वैसे ही शून्यवादियों के मत में भी पुरुषार्थ व्यर्थ है क्योंकि क्षणिक मत में कोई भी पदार्थ उत्तर क्षण में आप ही न रहेगा और शून्यमत में तो सब शून्य ही है, फिर पुरुषार्थ का क्या काम ॥४७॥

यहां तक नास्तिक मतों का स्थापन और खण्डन करके फिर पूर्वक्रमागत आस्तिक मतों पर बन्ध हेतु का खण्डन चलाते हैं। यदि कोई कहे कि गतिविशेष से पुरुष को बन्ध है, सो भी नहीं। यथा–

*** न गतिविशेषात् ॥ ४८ ॥ (४८)**

गतिविशेष से भी (बन्ध) नहीं ॥ ४८ ॥ क्योंकि–

*** निष्क्रियस्य तदऽसंभवात् ॥ ४९ ॥ (४९)**

निष्क्रिय (पुरुष) को उस (गति) के असम्भव से ॥

गति तो सक्रिय पदार्थ में होती है, पुरुष निष्क्रिय है, उस में क्रिया जनित परिणाम नहीं, अतएव गतिविशेष से भी बन्ध नहीं हो सकता ॥४९॥

यदि कोई कहे कि हम तो पुरुष को न विभु मानते हैं, न अणु, किन्तु मध्यम परिमाण वाला मानते हैं, तब तो गतिविशेष से बन्ध मानियेगा? क्योंकि मध्यम परिमाण में गति असम्भव नहीं। इस का उत्तर–

*** मूर्त्तत्वाद् घटादिवत्समानधर्मापत्तावऽप सिद्धान्तः ॥ ५० ॥ (५०)**

मूर्त्त होने से घटादि के समान धर्म प्राप्त होने में सिद्धान्त की हानि है ॥

पुरुष को नित्य मानना प्रत्येक आस्तिक का सिद्धान्त है, परन्तु पुरुष को यदि मध्यम परिमाण वाला मानकर गतिपरिणामी माने तो जैसे घटादि मध्यम परिणाम पदार्थ सावयव होने से नित्य नहीं, अनित्य हैं, वैसे ही पुरुष भी अनित्य ठहरेगा, तब नित्य पुरुष मानने रूप सिद्धान्त की हानि होगी। अतएव मध्यम परिमाण मान कर पुरुष को मूर्त्त और गतिमान् मानते हुवे गतिविशेष को बन्ध हेतु मानना ठीक नहीं ॥ ५० ॥ यदि कहो कि पुरुष को श्रुति में गति वाला लिखा है, तो उत्तर–

*** गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ॥ ५१ ॥ (५१)**

गति श्रुति भी उपाधि के योग से है, आकाश के समान ॥

पुरुष चलता नहीं, किन्तु अन्तःकरण चलता है, जैसे रथ में बैठा हुवा रथी स्थिर है, पर रथ के चलने से रथी चलता कहा जाता है। ऐसे ही गतिरहित पुरुष को भी वेद और उपनिषदों की श्रुतियें गतिमान् कहती हैं। जैसे—

असुर्य्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याऽपि गच्छन्ति ये के चात्महतोजनाः॥ यजुः ४०।३॥

इत्यादि श्रुतियों में पुरुष की गति कही गई है। सूत्र में जो आकाश का दृष्टान्त है वह निष्क्रियपने में है, विभुपने में नहीं। दृष्टान्त एकांश में चरितार्थ होता है, न कि सर्वांशों में। जैसे क्रिया परिणामरहित घटस्थ आकाश, घट के इधर उधर चलने से चलता कहाता है, वैसे गति क्रिया के परिणाम से रहित भी पुरुष गतिमान् कहा गया है, सो उस की गति स्वयं नहीं, अन्तःकरणरूप उपाधि (घेरे) से है, वास्तव में नहीं। वास्तव स्वरूप को श्रुतियों और स्मृतियों ने निष्क्रिय ही माना है। यथा—

१—नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः॥ इत्यादिस्मृतिरिति विज्ञानभिक्षुः॥

२—बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोह्यवरोऽपि दृष्टः॥ इत्यादिश्रुतिरित्यपि सएव॥

३—निर्गुणत्वमात्मनोऽसंगत्वादिश्रुतेः॥ सांख्यएव ६।१०

४—असङ्गोऽयं पुरुष इति॥ सां० १।१५ ऽपि॥

५—असंगोह्ययं पुरुषः॥ बृह० ६।३।१५

इत्यादि में पुरुष को निर्गुण, असंग, नित्य, अचल, सनातन, बुद्धि के चलने से चलत्वारोपवाला, आराग्रमात्र=अणु कहा है॥

जिस पदार्थ में गति=हिलना होगा वह पदार्थ परिणामी (मुतग़ैयर) होगा। जैसे हांडी के दही में विलोडनरूप गति से दही का परिणाम तक्र (मठा) होजाता है, दही नहीं रहता, वैसी पुरुष में गति नहीं, पुरुष कूटस्थ है, वह अन्तःकरण की उपाधि में घिरा हुवा किसी लोक लोकान्तर में चला जाय, परन्तु स्वरूप में अचल है अर्थात् किसी देश का परित्याग हो जाओ,

किसी देश की प्राप्ति हो जाओ, पुरुष पूर्व देश और उत्तर देश में कूटस्थ एकरस ही रहेगा क्योंकि देश बदला, परन्तु पुरुष नहीं बदला, पुरुष ज्यों का त्यों ही आकाश के समान एकरस रहा, क्योंकि उस के स्वरूप में कोई गति (हिल चल) नहीं हुई, अतः पुरुष में कही हुई गति, वास्तव में पुरुष में नहीं हुई, किन्तु उपाधि में हुई, पुरुष तो कूटस्थ ही रहा। अतएव गतिविशेष से बन्ध मानना ठीक नहीं ॥ ५१ ॥

यदि कहो कि कर्मजन्य अदृष्ट=प्रारब्ध से बन्ध है, तो उत्तर–

* न कर्मणाऽप्यतद्धर्म्मत्वात् ॥ ५२ ॥ (५२)

* अति प्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ॥ ५३ ॥ (५३)

कर्म से बन्ध नहीं क्योंकि वह (कर्म) उस (पुरुष) का धर्म नहीं ॥ अन्य धर्म मानने में अतिप्रसंग (दोष) होगा ॥

यही बात १६ वें सूत्र में भी (न कर्मणाऽन्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च) कह आये हैं, फिर यहां उस एक सूत्रस्थ ही विषय को ५२–५३ सूत्रों में देखने से पुनरुक्ति जान पड़ती है, परन्तु सूत्र १६ वें में कर्म शब्द से साक्षात् शुभ अशुभ कर्मों का ग्रहण है, और यहां सूत्र ५२ में उन कर्मों से उत्पन्न हुवे अदृष्ट वा प्रारब्ध का ग्रहण है। शेष सब अर्थ तुल्य है। इसी प्रकार अर्थभेद करके स्वामी हरिप्रसाद जी, सांख्यप्रवचन में विज्ञानभिक्षु, वृत्ति में महादेव वेदान्ती इत्यादि अनेक टीकाकार समाधान करते हैं, इस से अधिक कोई समाधान हम को भी प्रतीत नहीं होता ॥ ५३ ॥

* निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ॥ ५४ ॥ (५४)

निर्गुणादि श्रुतियों से भी विरोध है ॥

यदि पुरुष का ही धर्म यह भी मानलें कि कर्मजन्यअदृष्ट का कर्त्ता केवल पुरुष है, तो जो श्रुति पुरुष को निर्गुणादि विशेषणविशिष्ट कहती हैं, उन से विरोध होगा। जैसा कि सूत्र ५१ के भाष्य में हम श्रुति आदि लिख आये हैं। अतएव कर्मजन्यअदृष्ट से भी बन्ध नहीं हो सक्ता ॥ ५४ ॥

यदि कहो कि न स्वभावतोबद्धस्य० (७) इत्यादि उत्तर प्रत्युत्तरों के पश्चात् जो न नित्यशुद्ध० इस १९ वें सूत्र में प्रकृति पुरुष के संयोग को बन्ध माना था और उस पक्ष पर कोई आपत्ति नहीं दिखाई गई, सो भी तो ठीक नहीं, क्योंकि जो दूषण न कालयोग० १२ वें सूत्र में कालकृतबन्ध

मानने में दिया है, वही दोष बद्ध मुक्त दोनों को प्रकृतिसंयोग होजाने में आता है, तब तो समान दोष रहा ? उत्तर–

*** तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ॥ ५५ ॥ (५५)**

उस (प्रकृति) का संयोग भी अविवेक से है, (अतः) समानता नहीं॥

प्रकृति पुरुष का संयोग अविवेक से है, मुक्त जीव में विवेक होता है। अतएव कालादि के समान मुक्त पुरुष को बद्ध पुरुषों के समान अविवेक न होने से बन्धन नहीं होसकता। इस कारण १९ वें सूत्रोक्तपक्ष में १२ वें सूत्रोक्त दोष के समान दोष नहीं आसक्ता ॥ ५५ ॥

क्यों जी ! अविवेक का नाश ही कैसे होसक्ता है, जब कि वह अनादि काल से चला आता है ? उत्तर–

*** नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥५६॥ (५६)**

नियत कारण से उस (अविवेक) का नाश होजाता है, अन्धकार के समान ॥

जैसे दीपक वा सूर्यादि से अन्धकार का नाश होजाता है, वैसे ही शास्त्रों में बताये उपायों से विवेक का उदय होता है और विवेकोदय ही अविवेक के नाश का नियत कारण है, उसी विवेकोदय से अविवेक का नाश होजा-सक्ता है, जैसा कि समानतन्त्र योगदर्शन २। २६ में कहा है ॥ ५६ ॥

यदि कहो कि प्रकृतिपुरुष के विवेक हो जाने पर भी अन्य अविवेक मोक्ष में बाधा डालते रहेंगे ? तो यह उत्तर है कि–

*** प्रधानाऽविवेकादन्याऽविवेकस्य तद्धाने हानम् ॥५७॥ (५७)**

अन्य अविवेक प्रकृति के अविवेक से होते हैं, (बस) उस अविवेक के नाश में अन्य अविवेकों का भी नाश होजाता है ॥

जब प्रकृति के विषय में विवेक से अविवेक नष्ट होजाता है, तो प्रधान (प्रकृति) के कार्य महत्तत्वादि के अविवेक अपने आप नष्ट होजाते हैं ॥५७॥

यदि कहो कि जब विवेक से मोक्ष है और अविवेक से बन्ध, तो बन्ध के आवश्यक होते हुवे पुरुष को नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव कहना ठीक नहीं, जैसा कि सूत्र १९ में कहा था ? उत्तर–

*** वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ॥ ५८ ॥ (५८)**

कथनमात्र है, न कि यथार्थ, क्योंकि (बन्धादि) चित्तस्थित हैं ॥

अविवेक बन्ध इत्यादि चित्त के धर्म हैं और चित्त में ही स्थित हैं, पुरुष में नहीं, पुरुष में कहे जाते हैं वा प्रतीतमात्र होते हैं, वास्तव में स्वरूप से पुरुष को बन्धादि नहीं, अतः पुरुष के नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव मानने में कोई दोष नहीं। बुद्धि वा चित्त के सामीप्य से पुरुष में बुद्धि के धर्म ऐसे प्रतीत होने लगते हैं, जैसे स्फटिक बिल्लौर में जपापुष्प की सुर्खी। वास्तव में तो जपापुष्प ही रक्त है, स्फटिक रक्त नहीं, परन्तु समीप होने से जपापुष्प की रक्तता स्फटिक में झलकती है। जैसे कोई प्रतीत मात्र करता है कि स्फटिक रक्त है, पर स्फटिक की रक्तता वाङ्मात्र अर्थात् कथनमात्र है, वास्तविक स्फटिक का स्वरूप तो नित्य निर्मल, नीरङ्ग, स्वच्छ है। वैसे ही पुरुष का स्वरूप तो नित्य जैसे का तैसा स्वच्छ निर्मल निर्गुण ज्यों का त्यों ही रहता है, पुरुष की निज अवस्था जैसी बन्ध में है वैसी ही मोक्ष में है, अपरिणामी पुरुष के स्वरूप में न तो बन्ध समय में कुछ अन्तर पड़ता है, न मोक्षकाल में कोई भेद होता है। केवल बुद्धिसाहचर्य से बन्धादि व्यवस्था व्यावहारिक है। इसी को सूत्र में वाङ्मात्र कहा है ॥ ५८ ॥

यदि कहो कि जब वास्तव में बन्धादि नहीं, केवल कथनमात्र है, तो बन्धनाश के लिये विवेकोदय के उपाय वा उपदेश व्यर्थ हैं, युक्ति से ही जान लिया कि बन्ध कोई वस्तु नहीं ? उत्तर—

* युक्तितोऽपि न बाध्यते, दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ॥५९॥ (५९)

युक्ति से भी (बन्ध) हट नहीं सक्ता, बिना साक्षात् ज्ञान के, जैसे दिशा भूलने वाला ॥

कभी २ अविवेक से मनुष्य को दिशाभ्रम होजाता है, तब वह पूर्व को पश्चिम वा उत्तर को दक्षिण इत्यादि विपरीत जानने लगता है, तो यद्यपि उस का उलटा जानना कथनमात्र है, वास्तव में तो दिशा बदली नहीं, परन्तु वह कथनमात्र भी दिशाभ्रम तब तक दूर नहीं होता जब तक सूर्योदयादि साधनों से साक्षात् ज्ञान न हो। ऐसे ही बन्ध वास्तव में न हो, परन्तु जब तक विवेकोदय से कथनमात्र बन्ध को भी दूर न किया जावे तब तक बन्ध की निवृत्ति तो नहीं होती, अतएव विवेकख्याति कराने वाले वा उपाय बताने वाले शास्त्र व्यर्थ नहीं ॥ ५९ ॥

जिन प्रकृति महत्तत्त्वादि से पुरुष का विवेकज्ञान होकर मुक्ति होवे, उन की सिद्धि किस प्रकार हो, सो कहते हैं:-

*** अचाक्षुषाणामनुमानेन सिद्धिर्धूमादिभिरिव वह्नेः ॥६०॥ (६०)**

अदृष्ट पदार्थों की अनुमान से सिद्धि होती है, जैसे धूमादिकों से अग्नि की ॥

प्रकृति आदि कई पदार्थ अदृष्ट अचाक्षुष प्रत्युत अतीन्द्रिय हैं जो किसी इन्द्रिय से भी ग्रहण नहीं होते, उन की सिद्धि में अनुमान प्रमाण है। जैसे धूमादि को देख कर अदृष्ट अग्नि का अनुमान किया जाता है ॥ ६० ॥

अब उन प्रकृत्यादि २५ पदार्थों का परिगणनपूर्वक निर्देश करते हैं जिन में विवेक होकर मोक्ष हो:-

*** सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात्पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥६१॥ (६१)**

१-सत्त्व रजस् तमस् की साम्यावस्था=प्रकृति, प्रकृति से २-महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से ३-अहंकार, अहंकार से ४-८ पांच तन्मात्र और ९-१९ दोनों प्रकार के इन्द्रिय (११ मन सहित), तन्मात्रों से २०-२४ पांच स्थूल भूत और २५-एक पुरुष, यह पञ्चविंशति २५ का गण=समूह है ॥

१ पुरुष और २४ अन्य पदार्थ हैं, इन २४ पदार्थों और पुरुष में अज्ञानियों को विवेक नहीं होता, वे प्रकृत्यादि को ही पुरुष भी मान बैठते हैं। शास्त्र का तात्पर्य इस बात में ही है कि मुमुक्षुलोग प्रकृति और उस के कार्यमहत्त्वादि से पुरुष को भिन्न अपरिणामी चेतन कार्य कारण दोनों से विलक्षण समझ जावें, यही विवेक है। इस सूत्र में आये सत्त्व रजस् तमस् ३ द्रव्य हैं, वैशेषिक की परिभाषा वाले गुण नहीं। इन तीनों को लोक में वा शास्त्र में गुण इसलिये कहने लगे हैं कि पुरुष को बान्धने वाली प्रकृति रूपिणी रस्सी के ये ३ गुण=लड़ हैं, जैसे तीनों लड़ की दृढ़ रस्सी तिलड़ी बनी हुई पशु को बांधती है, वैसे सत्त्वादि तिलड़ी प्रकृति का अविवेककृत बन्धन पुरुष का होता है। इन सत्त्वादि तीनों को सब टीकाकार द्रव्य ही मानते हैं, वैशेषिकाभिमत गुण नहीं। यथा विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि:-

सत्त्वादीनि द्रव्याणि, न वैशेषिका गुणाः, संयोग विभागवत्त्वात् । लघुत्वगुरुत्वचलत्वादिधर्मकत्वाच्च । तेष्वत्र शास्त्रे श्रुत्यादौ च गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात् ॥

अर्थात् सत्त्वादि द्रव्य हैं, न कि वैशेषिक मत के गुण, क्योंकि संयोग विभागयुक्त हैं (गुण संयोग विभाग रहित होते हैं) तथा हलके भारी चलते फिरते इत्यादि धर्मवान् होने से भी (सत्त्वादि द्रव्य हैं; गुण नहीं) । परन्तु इन को जो सांख्य शास्त्र और श्रुति आदि में गुण शब्द से कहा है सो इस कारण कि ये पुरुष के उपकरण (बन्धन साधन) हैं ॥

इसी प्रकार महादेव वेदान्तिकृत वृत्ति में भी कहा है कि—

लघुत्वादिगुणयोगात्सत्त्वादित्रयं द्रव्यम् तत्र गुणशब्दस्तु पुरुषोपकरणत्वात् ॥

अर्थात् लघुत्वादि गुणवान् होने से सत्त्वादि तीनों द्रव्य हैं । उन में गुण शब्द का व्यवहार इस कारण हुवा कि वे पुरुष के उपकरण हैं। स्वामी हरिप्रसाद जी कृत वैदिकवृत्ति में भी ऐसा ही कहा है कि:—

सत्त्वरजस्तमांसि द्रव्याणि। न तु गुणाः। संयोगविभाग लघुत्वचलत्वगुरुत्वादिधर्मकत्वात् । गुणशब्दप्रयोगस्तु रज्जुसाम्यात्पुरुषबन्धहेतुतयौपचारिकः ॥

अर्थात् संयोग, विभाग, लघुत्व, चलत्व, गुरुत्वादि धर्म वाले होने से सत्व रज तम द्रव्य हैं, न कि गुण । गुण शब्द का प्रयोग औपचारिक है क्यों कि पुरुष को बांधने की रस्सी के समान (प्रकृति रस्सी के) सत्वादि ३ गुण= लड़ हैं ॥ इसी प्रकार अन्य टीकाकार मानते हैं । वैशेषिक में गुण शब्द का अन्य अर्थ और सांख्य में गुण शब्द का अर्थ द्रव्य होने से शास्त्रों का परस्पर विरोध नहीं, क्योंकि प्रत्येक शास्त्रकार अपनी परिभाषा जुदी जुदी करते हैं तो भी विरोध कोई नहीं । यूं तो पाणिनि मुनि ने—अदेङ्गुणः १ । १ । २ सूत्र में अपने शास्त्र में गुण का लाक्षणिक अर्थ अ, ए, ओ, ३ अक्षर किया है, तो भी वही पाणिनि—वोतोगुणवचनात् ४ । १ । ४४ इत्यादि सूत्रों में वैशेषिकाभिमत गुण शब्द का अर्थ लेते हैं, विरोध होता तो ऐसा क्यों होता ॥

इन सत्वादि तीनों द्रव्यों की अकार्य दशा वा अवस्था अथवा कारणाऽवस्था कहिये, प्रकृति कहाती है। अर्थात् साम्य अवस्था वाले सत्वादि तीनों मिल कर प्रकृति हैं॥

जब ये सत्वादि तीनों द्रव्य साम्याऽवस्था से विषमावस्था वा कार्यावस्था को प्राप्त होने लगते हैं तो पहले पहल जो परिणाम वा विकार वा कार्य उत्पन्न होता है उस को महत्तत्व कहते हैं। प्रकृति वंश में पहली सन्तान यही है। इसी को बुद्धि तत्व भी कहते हैं। यह बुद्धि न्यायशास्त्रोक्त बुद्धि नहीं है। न्याय में बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् १। १५ सूत्र में ज्ञान का नाम बुद्धि है जो आत्मा (पुरुष) का गुण है, न कि स्वतन्त्र द्रव्य, परन्तु यहां महत्तत्व द्रव्य है जो प्रकृति का कार्य है। कोई कहेंगे कि प्रकृति और उस के समस्त कार्य तो जड़ हैं और बुद्धि जानने का काम देती है, वह जड़ वा प्राकृत कैसे हो सक्ती है?

उत्तर—जिस प्रकार जड़ आंख भी देखने और देखकर रूप जानने का काम देती है, जड़ कान सुनने से शब्दज्ञान का काम देते हैं, जड़ त्वचा स्पर्श ज्ञान कराती है, जड़ घ्राण भी गन्धज्ञान में सहायता देता है और जड़ रसना भी कटुतिक्तादि को बोधित कराती है, इतने से कोई क्या कह सकता है कि इन्द्रियें चेतन हैं? अथवा क्या कोई मानेगा कि चक्षुरादि इन्द्रियें प्राकृत नहीं हैं? कोई नहीं। जब ज्ञानसाधनतामात्र से इन्द्रियें चेतन नहीं, तो ज्ञानसाधनतामात्र से बुद्धि को चेतन क्यों माना जावे? और प्रकृति का प्रथम कार्य मानने में क्यों शङ्का की जावे। वास्तव में जैसे आत्मा के दूर हो जाने पर चक्षुरादि इन्द्रियें रूपादि ज्ञान नहीं करातीं इसी प्रकार आत्मा के उत्क्रान्त (शरीर छोड़ देने) होने पर बुद्धितत्व वा महत्तत्व भी ज्ञान नहीं कराता। अतः महत्तत्व वा बुद्धि की प्राकृतता वा जड़ता सुस्पष्ट है॥

प्रश्न—न्यायदर्शन १ अध्याय १ आ० १२ सूत्र में इन्द्रियों का उपादान कारण पञ्चभूतों को माना है और इस के विरुद्ध सांख्यद० २ अ० २० सूत्र (अहंकारिकत्व० इत्यादि) में प्रतिपादन किया गया है कि पञ्चभूत इन्द्रियों के कारण नहीं हैं सो विरोध क्यों है?

उत्तर—पदार्थों की संख्या वा विभाग सब शास्त्रों में एक सा नहीं है। न्याय में प्रथम १६ पदार्थ प्रमाणादि बता कर उन १६ में से दूसरे प्रमेय के १२ भेद ये हैं कि—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धि० १ । १ । ९

१ आत्मा, २ शरीर, ३ इन्द्रिय, ४ अर्थ (विषय), ५ बुद्धि, ६ मनस् ७ प्रवृत्ति ८ दोष, ९ प्रेत्यभाव, १० फल, ११ दुःख और १२ मोक्ष। परन्तु इस में यह नहीं कहा कि ये १२ वा १६ द्रव्य हैं, वा गुण, कर्म हैं। इस व्यवस्था को वैशेषिक ने ठीक किया है और ६ पदार्थ विभाग करके माने हैं। तब क्या वैशेषिक से न्याय का कोई विरोध होगया ? कुछ नहीं। संसार के पदार्थों को कोई कैसे गिनता है, कोई कैसे, कोई कुछ संज्ञा रखता है, कोई कुछ। ये बातें विरोध की नहीं। इस प्रकार विचार से ज्ञात होगा कि जिस जगत् के उपादान की सांख्य शास्त्र से एक संज्ञा प्रकृति की है, उसी को न्यायदर्शनकार ने कारणद्रव्य मानकर पञ्चभूत संज्ञा रक्खी है। तब न्याय का भूतों से इन्द्रियोत्पत्ति मानना अपने मत के उपादान कारणरूप पञ्चतत्त्व (जिन को सांख्य में सत्त्वादि की साम्यावस्था कहकर प्रकृति माना है) के अभिप्राय से है, न कि सांख्याभिमत प्रकृति के चौथे कार्य पञ्च स्थूल भूतों से, और हम समझते हैं कि इसी कारण सांख्यदर्शन के प्रणेता ने बुद्धिमानी की है जो सूत्र १। ६१ में स्थूलभूतानि कहते हुवे कार्यरूप पञ्चभूत बताने को ही स्थूल शब्द विशेषणार्थ रख दिया है कि कोई न्याय के कारण द्रव्य पञ्चसूक्ष्मभूतों का अर्थ न समझले। बस जब व्यवस्थाभेद है और न्याय में कारणभूतों का कार्य इन्द्रियें बताई हैं, और सांख्य में कार्य (स्थूल) पञ्चभूत गिनाये हैं तब सांख्यकार ने—

अहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि २ । २०

में इन्द्रियों के भौतिकत्व का जो खण्डन किया है वह अपने मत के स्थूल भूतों का कार्य न मानते हुवे किया है, न कि न्यायाभिमत कारण वा सूक्ष्मपञ्चभूतों के कार्यत्व का। अतएव परस्पर न्याय सांख्य में इस अंश में विरोध नहीं॥

जिस प्रकार इस सूत्र में प्रकृति का निर्देशमात्र है, कुछ लक्षण नहीं, इसी प्रकार इस सूत्र में महदादि का भी नाममात्र निर्देश से बताया है। दोनों प्रकार के इन्द्रियों से तात्पर्य अन्तःकरण और बहिःकरणभेद नाम दो भेद हैं उन में से अन्तःकरण में १ मन है, बहिःकरण में पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं सब मिलकर ११ हुवे। पांच ज्ञानेन्द्रिय ये हैं १—कान,

२–त्वचा, ३-आंख, ४–रसना और ५–नासिका । पांच कर्मेन्द्रिय ये हैं-१–हाथ २–पांव ३–वाणी ४-उपस्थ और ५–गुदा । जिस प्रकार पांच कर्मेन्द्रियों के अन्तर्गत १ हाथ है, उस हाथ के दो भेद हैं १ दहिना २ बायां । अथवा दहिने बायें भेद से दो पांव वा पशुओं के चार पांव भी १ पाद इन्द्रिय के अन्तर्गत हैं, वैसे ही मन के अन्तर्गत उसी का भेद चित्त भी समझना चाहिये ॥

पुरुष शब्द से १ परमेश्वर और असंख्य जीवों का ग्रहण है क्योंकि असंख्य जीवात्मा और १ परमात्मा पुरुष शब्द के अर्थ हैं । गण शब्द जो सूत्र के अन्त में है वह समुदाय वा समूह का अर्थ देता है । इस पर विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि—

सत्त्वादीनां प्रत्येकव्यक्त्याऽऽनन्त्यं गणशब्दोवक्ति

अर्थात् सत्त्वादि में एक एक व्यक्ति की अनन्तता को गण शब्द कहता है । सत्त्व अनेक हैं, महत्तत्त्व अनेक हैं, अहङ्कार भी अनेक हैं जो प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न २ हैं । ऐसे ही ५ तन्मात्र ५ स्थूलभूत और पुरुष भी अनेक वा अनन्त हैं ॥

यद्यपि यहां सांख्य दर्शन में सत्त्वादि २५ पचीसों पदार्थ द्रव्यरूप ही हैं, तथापि वैशेषिक में कहे द्रव्य गुण कर्मादि सब इन्हीं के अन्तर्गत हैं, इस बात की पुष्टि विज्ञानभिक्षु भी करते हैं । वे कहते हैं कि—

धर्मधर्म्यऽभेदात्तु गुणकर्मसामान्यादीनामत्रैवान्तर्भावः

धर्म और धर्मी को भिन्न न गिने तो गुण कर्म सामान्य आदि इन्हीं सांख्योक्त २५ पदार्थों में अन्तर्गत रहते हैं ॥

वास्तव में धर्मी से पृथक् धर्म है भी नहीं । जैसे पृथिवी द्रव्य और उस का गन्ध गुण है, परन्तु गन्धगुण न हो तब पृथिवी क्या है ? कुछ कह नहीं सकते । दुग्ध की श्वेतता आदि समस्त गुण न रहें तब क्या दुग्ध रहेगा ? कभी नहीं । इस प्रकार सूक्ष्म विचार किया जावे तो धर्मी से भिन्न धर्म (गुण कर्म इत्यादि) ठहर न सकेगा । इस प्रकार इन २५ पदार्थों में सब कुछ अन्तर्गत न माने और इन से भिन्न भी कोई पदार्थ माने तो इस शास्त्र में न कहे हुवे अन्य पदार्थों से पुरुष की भिन्नता रूप विवेक इस शास्त्रद्वारा न रहे । अतएव सब पदार्थों का अन्तर्भाव इन्हीं २५ में है, ऐसा जानना चाहिये और सांख्य मत में-असंख्य पदार्थ मानना बताना मूढ़ता है । वैशे-

षिक में जो दिशा और काल दो द्रव्य गिनाये हैं, वे सांख्य के आकाश पदार्थ के अन्तर्गत हैं जो आकाश ५ भूतों में १ एक है जैसा कि इसी सांख्य में आगे २ । १२ में कहेंगे कि-दिक्कालावाकाशादिभ्यः ॥

ये ही २५ पदार्थ कहीं एक दूसरे में अन्तर्गत मानकर १ वा ६ वा १६ इत्यादि अनेक प्रकार से वर्णित हैं जैसा कि १ कवि कहता है सो हम विज्ञान भिक्षु भाष्य से उद्धृत करते हैं:-

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च ।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥१॥
इति नाना प्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् ।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषां किमशोभनम् ॥ २ ॥

अर्थात् एक तत्त्व में अन्य तत्त्वों को अन्तर्गत गिन कर अनेक ऋषियों ने तत्त्वों की अनेक प्रकार की संख्या बताई है जो सभी युक्तियुक्त होने से न्याय्य (ठीक) है, विद्वानों को क्या अशोभन है ? वे सब प्रकार से निरूपण कर सकते हैं, यह बुद्धिवैभव का फल है ॥

ये ही पदार्थ प्रश्नोपनिषद् ४ । ८ में कहे हैं कि:-

पृथिवी च पृथिवी मात्रा चापश्चापो मात्रा च
तेजश्च०......प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥

ये ही सब जब प्रलय काल में परमात्मा में लय को प्राप्त हो जाते हैं, तब १ तत्त्व कहाता है, परन्तु लय का अर्थ सूक्ष्मभाव से रहना है, नाश नहीं, इस बात को प्रसिद्ध वेदान्ती विज्ञानभिक्षु भी स्वीकार करते हैं कि-

लयस्तु सूक्ष्मीभावेनाऽवस्थानं न तु नाश इति

जिस से स्पष्ट है कि वेदान्ती लोग जो अद्वैत शब्द का ठीक तात्पर्य समझे हैं वे जीवात्मा वा प्रकृति का नाश नहीं मानते केवल परमात्मा में लीन होकर रहना मानते हैं । इसी युक्ति से उपनिषदों में जहां जहां अद्वैत वाद की शङ्का उठती हैं उन सब का समाधान हो जायगा ॥

इस सूत्र के भाव को लेकर श्रीमान् पं० ईश्वरकृष्ण जी अपनी सांख्यकारिका में इस प्रकार लिखते हैं कि—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

श्रीमान् गौडपादाचार्यकृत भाष्यानुसार कारिका का अर्थ यह है कि इन २५ पदार्थों के ४ भेद हैं १-अविकृति प्रकृति। २-प्रकृति विकृति ३-विकृति और ४-न प्रकृति न विकृति। १-मूलप्रकृति (प्रधान) है जो किसी का विकार न होने से अविकृति है और महत्तत्वादि का उपादान होने से प्रकृति है।

२-दूसरे ७ सात पदार्थ प्रकृति और विकृति हैं वे ७ ये हैं १ महत्तत्व २ अहंकार ३-७ पांच तन्मात्र=शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। ये प्रकृति और विकृति इस प्रकार हैं कि १-महत्तत्व है जो मूल प्रकृति का विकार होने से विकृति और अहंकार का उपादान होने से प्रकृति। २-अहंकार है जो महत्तत्व का विकार होने से विकृति और पांच तन्मात्रों का उपादान होने से प्रकृति। ३-शब्द तन्मात्र है जो अहंकार का विकार होने से विकृति और आकाशका उपादान होने से प्रकृति। ४-स्पर्श है जो अहंकार का विकार होने से विकृति और वायु का उपादान होने से प्रकृति। ५-रूप है जो अहंकार का विकार होने से विकृति और अग्नि का उपादान होने से प्रकृति। ६-रस है जो अहंकार का विकार होने से विकृति और जल का उपादान होने से प्रकृति और ७-गन्ध तन्मात्र है जो अहंकार का कार्य वा विकार होने से विकृति और पृथिवी (पांचवें स्थूल भूत) का उपादान होने से प्रकृति है॥

३-विकृति—ये १६ पदार्थ हैं जो केवल विकृति हैं, प्रकृति (उपादान) नहीं। वे १६ ये हैं—५ ज्ञानेन्द्रियें ५ कर्मेन्द्रियें १ मन, ५ स्थूल भूत। इन सोलहों में से १० इन्द्रियें और ११ वां मन तो अहंकार का विकार होने से विकृति हैं तथा ५ स्थूल भूत हैं जो ५ तन्मात्रों की विकृति (कार्य) हैं॥

४-पुरुष है जो न प्रकृति है, न विकृति है। प्रकृति इस लिये नहीं कि उस से कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। विकृति इस लिये नहीं कि पुरुष किसी से विकाररूपेण उत्पन्न नहीं हुवा॥ ६१॥

अब यह देखकर कि २५ पदार्थों में पञ्चस्थूल भूतादि का बोध तो प्रत्यक्ष से है, परन्तु प्रकृत्यादि २० सूक्ष्मों का बोध कैसे हो? सो बताते हैं:—

* स्थूलात्पञ्चतन्मात्रस्य ॥ ६२ ॥ (६२)

स्थूल से पांच तन्मात्र का (अनुमान से बोध होता है) ॥

पृथिव्यादि पांच स्थूलभूतों से उन के सूक्ष्म कारण पांच तन्मात्रों का बोध हो जाता है, क्योंकि कार्य को जान कर कारण का अनुमान से बोध हुवा करता है॥ अनुमानेन बोधः इतनी अनुवृत्ति सूत्र ६० में से आती है ॥ ६२ ॥

* बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाऽहंकारस्य ॥ ६३ ॥ (६३)

बाह्य और आभ्यन्तरों (दोनों प्रकार के मन आदि इन्द्रियों) से तथा उन (पांच तन्मात्रों) से अहंकार का (अनुमान से बोध होता है) ॥

क्योंकि कार्य से कारण का बोध हुवा करता है अतः ११ इन्द्रिय और पांच तन्मात्र कार्यों से उन के कारण अहंकार का बोध होता है ॥ ६३ ॥

* तेनान्तःकरणस्य ॥ ६४ ॥ (६४)

उस (अहंकार) से अन्तः करण (महत्तत्त्व वा बुद्धि तत्त्व) का (अनुमान से बोध होता है) ॥

यद्यपि अन्यत्र अन्तःकरण शब्द से मन बुद्धि चित्त अहंकार चारों का ग्रहण हुवा करता है, परन्तु यहां ६२ । ६३ सूत्रों में मन और अहंकार का पृथक् निर्देश होने से अवशिष्ट और क्रमप्राप्त महत्तत्त्व का ग्रहण ही इष्ट समझना चाहिये ॥ ६४ ॥

* ततः प्रकृतेः ॥ ६५ ॥ (६५)

उस (महत्तत्त्व) से प्रकृति का (अनुमान से बोध होता है) ॥ ६५ ॥

इस प्रकार कार्य से कारण का अनुमान करके प्रकृति आदि १९ पदार्थों का बोध कहा, परन्तु पुरुष तो न किसी का कार्य है, न उपादान कारण है, उस का बोध किस प्रकार हो ? उत्तर—

* संहतपरार्थत्वात्पुरुषस्य ॥ ६६ ॥ (६६)

संहतों के परार्थ होने से पुरुष का (अनुमान से बोध होता है) ॥

प्रकृति और महत्तत्त्वादि २३ कार्य पदार्थ संहत हैं, सो अपने लिये कुछ नहीं, परार्थ हैं । जैसे वस्त्र, भोजन, शय्यादि पदार्थ अपने लिये नहीं किसी अन्य के लिये होते हैं वैसे ही प्रकृत्यादि २४ पदार्थ भी अन्य के भोग मोक्ष का साधन हैं और जिस के भोग मोक्ष का साधन हैं वही पुरुष है जो संहतों के परार्थ होने रूप सामान्यतोदृष्ट अनुमान से जाना जाता है ॥ ६६ ॥

तो क्या जैसे स्थूलभूतादि के कारण पञ्चतन्मात्रादि बताये ऐसे ही प्रकृति का भी कोई कारण है ? नहीं, सो कहते हैं:-

* मूले मूलाऽभावादऽमूलंमूलम् ॥ ६७ ॥ (६७)

मूल में मूल न होने से मूल, अनन्यमूल है ॥

महत्तत्त्वादि २३ तत्त्वों का मूल प्रकृति है जिस का मूल कारण अन्य कोई नहीं, अतः वह मूल प्रकृति अमूल है अर्थात् अन्यमूलरहित स्वयं ही शेष २३ का मूल कारण है ॥ ६७ ॥

यदि कोई प्रकृति से भी परम्परा चलावे तो उत्तर:-

* पारम्पर्य्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम् ॥६८॥ (६८)

परम्परा होना मानने में भी एकत्र समाप्ति मानोगे तब नाम मात्र (विवाद) है ॥

यदि कोई प्रकृति से परे अन्य मूल, उस से परे अन्य इत्यादि परम्परा चलावे तो भी किसी एक को सब से परे मानेगा, और उस का कुछ नाम (प्रकृति नाम न रख कर) रक्खेगा, हम उसी को प्रकृति कहेंगे, तब हम वादि प्रतिवादियों में नाम मात्र वा संज्ञामात्र भेद रहेगा। वास्तविक भेद नहीं ॥ ६८ ॥ क्योंकि-

* समानः प्रकृतेर्द्वयोः ॥ ६९ ॥ (६९)

दोनों (पक्षों) में प्रकृति का (एक मानना) समान है ॥ ६९ ॥

* अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥ ७० ॥ (७०)

अधिकारियों के विविध होने से नियम नहीं ॥

उत्तम मध्यम अधम ३ प्रकार के अधिकारी होते हैं, इस कारण यह नियम नहीं हो सक्ता कि इस सुगम उपाय से, जो यहां वर्णित है, सब को विवेक हो जावे और सब की मुक्ति हो जावे ॥ ७० ॥

प्रकृति आदि के कारण कार्यभाव को तो कह चुके, अब उस का क्रम कहते हैं:-

* महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ॥ ७१ ॥ (७१)

महत् नामक पहला कार्य है वह मननात्मक (वृत्ति=बुद्धि) है ॥

यहां मनः शब्द से एकादशवें इन्द्रिय मन का ग्रहण नहीं, वह तौ उभयामिन्द्रियम् कहने से अहंकार का कार्य है सो तीसरा कार्य है; आद्य कार्य यहां मनः शब्द से बुद्धि ही ग्रहण करना चाहिये ॥ ७१ ॥

* चरमोऽहंकारः ॥ ७२ ॥ (७२)

इस से अगला (दूसरा) अहंकार है ॥ ७२ ॥

* तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम् ॥ ७३ ॥ (७३)

अगले (११ इन्द्रियें, ५ तन्मात्र) उस (अहंकार) के कार्य हैं ॥

इसी से यह भी समझना चाहिये कि पञ्चतन्मात्रों का कार्य स्थूलभूत हैं ॥७३॥

* आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत् ॥७४॥(७४)

परम्परा भाव में भी उस (महदादि) के द्वारा आद्य (प्रकृति) को अणु के समान हेतुता है ॥

यद्यपि महत् आदि कार्य भी उत्तरोत्तर अपने से अगलों के कारण हैं, तथापि परम्परा से महदादि के द्वारा प्रकृति सब का आदि कारण है ॥ ७४॥

* पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः ॥ ७५ ॥ (७५)

यदि पूर्व होने से दोनों (प्रकृति पुरुष) को (कारण मानें) तौ एकतर पुरुष को छोड़ने पर अन्यतर (प्रकृति) को योग है ॥

यदि कोई सोचे कि जैसे प्रकृति सब से पहली है, किसी से उत्पन्न नहीं इस लिये वह सब का उपादान कारण मानी गई, ऐसे ही पुरुष में भी तौ पूर्वभावित्व है, अर्थात् पुरुष भी तौ महदादि सब से पहला है, उस को भी उपादान कारण क्यों न मानलें तौ उत्तर यह है कि यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों ही पूर्वभावी हैं परन्तु उन दोनों में से विकाररहित होने से पुरुष में उपादानता का हान (त्याग) होने पर अन्य रही प्रकृति, उसी में उपादानकारणता युक्त है ॥ ७५ ॥

* परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ॥ ७६ ॥ (७६)

परिच्छिन्न (एक देशीय पदार्थ) सब का उपादान नहीं हो सक्ता ॥

प्रकृति को छोड़ कर महत्तत्वादि पदार्थ परिच्छिन्न हैं, वे सब का उपादान नहीं हो सके ॥

*** तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ॥ ७७ ॥ (७७)**

उस की उत्पत्ति के श्रवण से भी ॥

परिच्छिन्न सब पदार्थों की उत्पत्ति भी सुनी जाती है, इस से भी वह सब का उपादान नहीं हो सकते। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।७ में कहा है कि-तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते इत्यादि। अर्थात् प्रथम अव्याकृत प्रधान वा प्रकृति एक पदार्थ था, उस में से अन्य पदार्थ बनते गये और उन के नाम और रूप होते गये ॥ ७७ ॥

यदि कहो कि अभाव से ही सब जगत् की उत्पत्ति मानने में क्या दोष है? तो उत्तर-

*** नावस्तुनोवस्तुसिद्धिः ॥ ७८ ॥ (७८)**

अवस्तु से वस्तु की सिद्धि (उत्पत्ति) नहीं हो सकती ॥ ७८ ॥

यदि कहो कि जगत् को भी हम अवस्तु ही मान लेंगे, जैसे रस्सी में सांप, सीप में चान्दी इत्यादि अवस्तु भी वस्तु जान पड़ती हैं, वैसे अवस्तुरूप जगत् भी वस्तुरूप से प्रतीत होता है। इस में क्या दोष है? उत्तर-

*** अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नाऽवस्तुत्वम् ॥ ७९ ॥ (७९)**

अबाध होने और अदुष्ट कारण से उत्पन्न हुवा होने से (जगत् को) अवस्तुत्व नहीं है ॥

जैसे रस्सी का सांप वा सीप की चान्दी समझना, भ्रान्तिमूलक है, भ्रान्ति निवृत्त होने पर बाधित है, वैसे जगत् की प्रतीति बाधित नहीं, वह बाध-रहित है और भ्रमात्मक प्रतीति इन्द्रियों के दोष से उत्पन्न होती है, जैसे रस्सी में सांप, वा दीपक की एक ज्योति में २ वा ३ वा ४ ज्योति प्रतीत होती हैं, वह प्रतीति दुष्ट कारणजन्य है, परन्तु जगत् अदुष्टकारणजन्य है। अतः अवस्तु नहीं ॥ ७९ ॥

यदि कहो कि अभाव से भावोत्पत्ति ही क्यों न मान लें? तो उत्तर-

*** भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात्**
कुतस्तरां तत्सिद्धिः ॥ ८० ॥ (८०)

भाव माने तो उस (भाव) से उस (कारण के भाव) की भी सिद्धि होगी और अभाव माने तो उस (भाव) की सिद्धि कांहे से हो ? ॥ ८० ॥

तो क्या कर्म ही जगत् का उपादान कारण है ? नहीं—

*** न कर्मण उपादानत्वाऽयोगात् ॥ ८१ ॥ (८१)**

कर्म को उपादानपन के अयोग से (कारणत्व सिद्ध) नहीं ॥

कर्म निमित्त कारण तो है और हो सकता है, परन्तु कर्म किसी का उपादान नहीं बन सकता, क्योंकि द्रव्य से द्रव्य उत्पन्न हो सक्ता है, कर्म से द्रव्य नहीं ॥ ८१ ॥

यदि कहो कि कर्म उपादान नहीं, पर निमित्त कारण तो है, जब कर्म जगत् की उत्पत्ति में निमित्त कारण हैं, तो उन वैदिक कर्मों से ही मोक्ष भी हो जायगा, प्रकृति पुरुष के विवेकज्ञान की क्या आवश्यकता है ? तो उत्तर-

*** नाऽऽनुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेना ऽऽवृत्तियोगादऽपुरुषार्थत्वम् ॥ ८२ ॥ (८२)**

वैदिक विहित कर्म से भी उस (मोक्ष) की सिद्धि नहीं क्योंकि (कर्म) साधनजन्य है अतः आवृत्ति (पुनर्जन्म) होने से (कर्म को) पुरुषार्थता नहीं ॥

केवल वैदिक अग्निष्टोमादि यज्ञ कर्मों से मोक्ष नहीं हो सक्ता, जब तक ज्ञान न हो, क्योंकि कर्म तो साधनों से अर्थात् हस्तपादादि इन्द्रियों से बनते हैं, तब उन का फल मोक्ष भी साधनों (इन्द्रियों) से ही भोगना पड़ेगा, और इस लिये पुनः देहधारणादि की आवृत्ति होगी, इस दशा में कर्म को पुरुषार्थत्व क्या हुवा जब कि साधनों बिना उस का फल स्वतन्त्र होकर न पाया ॥ प्रथम सूत्र (१६) में कर्म से बन्धन का असंभव कहा था, फिर सूत्र (८१) में कर्म से जगदुत्पत्ति का असंभव कहा, अब इस (८२) वें सूत्र में कर्म से मोक्ष का असंभव कहा, अतः इन तीनों सूत्रों में पुनरुक्ति नहीं है ॥ ८२ ॥

*** तत्र प्राप्तविवेकस्याऽनावृत्तिश्रुतिः ॥ ८३ ॥ (८३)**

वहां (मोक्ष में) प्राप्तविवेक पुरुष की अनावृत्ति सुनते हैं ॥

जैसे कर्मी लोग जन्ममरण के चक्र में हैं, वैसे ज्ञानी लोग चक्र में आवृत्ति

नहीं करते फिरते। कल्पान्तर में मुक्ति से पुनरावृत्ति दूसरी बात है ॥ ८३ ॥

तो कर्म से क्या फल होगा ? उत्तर—

* दुःखाद्दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ॥ ८४ ॥ (८४)

दुःख के पश्चात् दुःख होता है, जड़ता छूटती नहीं, जैसे नित्य जलस्नान ॥

जैसे आज स्नान किया, थोड़ी देर को मलिनता दूर हुई, सायंकाल वा अगले दिन फिर स्नान की आवश्यकता होगई, ऐसे ही कर्म करने मात्र से विना ज्ञान के जन्म मरणरूप दुःख की बारम्बार आवृत्ति रहती है, जड़ता (अज्ञान) छूटती नहीं ॥ ८४ ॥

अच्छा तो निष्काम कर्म से तो मुक्ति हो जायगी ? उत्तर—

* काम्येऽकाम्येपि साध्यत्वाऽविशेषात् ॥ ८५ ॥ (८५)

काम्य और अकाम्य में भी साध्यत्व की समानता से (दुःख वा बन्ध की निवृत्ति नहीं) ॥

जैसे काम्य=सकाम कर्म साध्य=साधनजन्य है, वैसे ही निष्काम वा अकाम्य कर्म भी साधनजन्य है, बस उस का फल भी साधन (इन्द्रियों) द्वारा होगा, तब दुःख अवश्य रहा, इस लिये काम्य और अकाम्य में साधन-जन्यता की समानता है, विशेष नहीं ॥ ८५ ॥

यदि कहो कि ऐसे तो विवेकजन्य ज्ञान द्वारा प्राप्त मोक्ष में भी सुख भोगार्थ इन्द्रियों की आवश्यकता पड़ेगी, फिर तो इसी के समान वह भी रहा ? उत्तर—

* निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं, न समानत्वम् ॥८६॥ (८६)

स्वरूप से मुक्त को परा काष्ठा का बन्धनाश मात्र है, (अतः) समानता नहीं ॥

कर्म से मुक्ति हो तो आत्मा के साक्षात् सच्चिन्मात्र स्वरूप से नहीं हुई, परन्तु विवेक वा ज्ञान से मुक्ति हो तो उस निजमुक्त (स्वरूप से मुक्त) को परला (अत्यन्त) बन्धननाशमात्र होगया, इस लिये कर्म द्वारा मोक्ष को ज्ञानजन्य मोक्ष की समानता नहीं ॥ ८६ ॥

अच्छा तो प्रकृति पुरुष के विवेक से ही मुक्ति सही तो भी प्रमाणों का उपदेश किये विना वह कैसे सिद्ध होगी, अतः सांख्याचार्य प्रमाणों का वर्णन आरम्भ करते हैं:—

* द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसंनिकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम् ॥ ८७ ॥ (८७)

असन्निकृष्ट अर्थ का निश्चयात्मक बोध प्रमा है, चाहे वह दोनों (बुद्धि और पुरुष) को हो, वा दोनों में से किसी एक को हो, उस (प्रमा) का जो अत्यन्त साधक है वह प्रमाण तीन प्रकार का है ॥

असन्निकृष्ट का अर्थ " प्रमाता ने नहीं जाना " है। जो पदार्थ प्रमाता पुरुष और बुद्धि प्रमात्री ने वा दोनों में से एक ने अब तक जाना नहीं था, उस के यथार्थ ज्ञान लेने को प्रमा कहते हैं, उस प्रमा के सिद्ध करने को तीन प्रकार के प्रमाण (१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान ३ शब्द) हैं ॥ ८७ ॥

क्यों जी ! उपमानादि अन्य प्रमाण क्यों नहीं गिनाये ? उत्तर—

* तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाऽऽधिक्यसिद्धिः ॥ ८८ ॥ (८८)

उन (३) की सिद्धि में अन्य सब (प्रमाणों) की सिद्धि होने से अधिक (प्रमाणों) की सिद्धि नहीं ॥

हम तीन से अधिक प्रमाण इस लिये नहीं मानते हैं कि उन्हीं ३ में सब उपमानादि भी अन्तर्गत होने से सिद्ध हैं ॥ ८८ ॥ अब ३ प्रमाणों में से प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं: –

* यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् ॥ ८९ ॥ (८९)

सम्बद्ध हुआ हुवा जो तदाकारचित्रात्मक विज्ञान है वह प्रत्यक्ष है ॥

इन्द्रियों के सन्निकर्षरूप सम्बन्ध को प्राप्त हुवा जो उस विषय के आकार का चित्र खींचने वाला विज्ञान है, वह प्रत्यक्ष कहाता है ॥ ८९ ॥

यदि कहो कि योगियों को तो विना इन्द्रियसम्बन्ध के भी तदाकारोल्लेखि विज्ञान हो जाता है, इस लिये उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष है ? तो उत्तर–

* योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ॥ ९० ॥ (९०)

योगियों को बाह्य प्रत्यक्ष न होने से दोष (अव्याप्ति) नहीं ॥

योगियों को बाह्य प्रत्यक्ष न होने से उन के ज्ञान का नाम प्रत्यक्षज्ञान ही नहीं, अतः अव्याप्ति दोष नहीं आता ॥ ९० ॥ अथवा–

* लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ॥ ९१ ॥ (९१)

लीन वस्तुओं में लब्ध अत्यन्त सम्बन्ध से (भी अव्याप्ति) दोष नहीं ॥

अन्य साधारणों को तो वर्त्तमान वस्तु का ही इन्द्रियसम्बन्ध होता है, परन्तु योगियों को लीन (भूत वा भविष्यत्) का भी सम्बन्ध (सन्निकर्ष) हो जाता है सो भी अन्यों को तो सम्बन्ध ही होता है, योगियों को अत्यन्त सम्बन्ध होता है, इस लिये प्रत्यक्ष का लक्षण वहां भी चरितार्थ हो जाने से अव्याप्ति नहीं आती। योगियों के वस्तु संबन्ध को इस सूत्र में अतिशय सम्बन्ध वा अत्यन्त संबन्ध इस लिये कहा है कि साधारण जनों को तो घट पटादि पदार्थों के केवल ऊपरी भाग का संबन्ध होता है परन्तु योगियों को भीतर बाहर ऊपर नीचे सब का सब साक्षात् हो जाता है, इस लिये योगियों को अतिशय संबन्ध का लाभ हो जाता है, फिर प्रत्यक्षलक्षण में अव्याप्ति दोष कहां रह सकता है ॥ ९१ ॥ तथा—

* ईश्वराऽसिद्धेः ॥ ९२ ॥ (९२)

ईश्वर की असिद्धि से (दोष=अव्याप्ति नहीं) ॥

यदि कोई इन्द्रियों के ही संबन्ध से प्रत्यक्ष होना माने तो उस को ईश्वर की भी सिद्धि नहीं माननी पड़ेगी, क्यं कि ईश्वरविषयक प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) विना इन्द्रियों के ही हो जाता है, अतः योगियों को इन्द्रिय सम्बन्ध विना भी जो प्रत्यक्ष से घटपटादि का ज्ञान हो जाता है उस में प्रत्यक्ष लक्षण क्यों अव्याप्त माना जावे ? ॥ ९२ ॥

यदि कहो कि विना इन्द्रियों के संबन्ध के प्रत्यक्ष न मानने में ईश्वराऽसिद्धि दोष कैसे आवेगा ? तो उत्तर—

* बद्धमुक्तयोरन्यतराऽभावान्न तत्सिद्धिः ॥ ९३ ॥ (९३)

बद्ध और मुक्त इन दोनों में से किसी एक के अभाव से उस (ईश्वर) की सिद्धि न होगी ॥

यदि ईश्वर को बद्ध माने तो ईश्वरता न रही, और मुक्त माने तो इन्द्रियों का विषय न होने से योगियों को उस का प्रत्यक्ष न हो सके। जब दोनों पक्ष नहीं बनते तब उस ईश्वर की असिद्धि रूप दोष आया। इस लिये इन्द्रिय

संबन्ध के बिना भी प्रत्यक्ष ज्ञान होना मानना ही योगियों को ईश्वरविषयक प्रत्यक्ष का साधक है और ऐसा मानने से प्रत्यक्षलक्षण में योगिप्रत्यक्ष भी घटित होगा, अव्याप्ति दोष नहीं आवेगा ॥ ९३ ॥

* उभयथाऽप्यसत्करत्वम् ॥ ९४ ॥ (९४)

दोनों प्रकार से भी व्यर्थ है ॥

बद्ध ईश्वर की ईश्वरता सिद्ध नहीं हो सकती, मुक्त ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं होसकता, इस प्रकार दोनों पक्ष में उस में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं घट सकते। इस से यही मानना ठीक है कि योगियों को बाह्येन्द्रियसंबन्ध बिना भी प्रत्यक्षज्ञान होता है। ऐसा मानने में प्रत्यक्षलक्षण, ईश्वरविषयक योगियों के प्रत्यक्ष में अव्याप्त (न घटने वाला) नहीं रहता ॥ ९४ ॥

* मुक्तात्मनः प्रशंसोपासा सिद्धस्य वा ॥ ९५ ॥ (९५)

प्रशंसा मुक्तात्मा की है, और उपासना सिद्ध की है ॥

प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से है, अन्यथा नहीं, यदि ईश्वर प्रत्यक्ष प्रमाण से योगियों को भी सिद्ध न हो तो उस की उपासना व्यर्थ हो जावे। और यदि बद्ध हो तो उस की प्रशंसा जो वेदादि शास्त्रों में कही है, वह न बन सके, वह प्रशंसा तो मुक्तात्मा=ईश्वर की ही हो सकती है ॥ ९५ ॥

यदि कहो कि अतीन्द्रिय और मुक्त ईश्वर जगद्रचनादि राग के से कामों का अधिष्ठाता कैसे हो सकता है? तो उत्तर—

* तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥ ९६ ॥ (९६)

उस (ईश्वर) के सामीप्यमात्र से अधिष्ठातापन है, जैसे मणि में ॥

मणि=चुम्बक जैसे लोह के खेंचने को कोई क्रिया नहीं करता, किन्तु स्वभाव से ही लोहा उस की ओर खिंच जाता है, केवल लोहे के समीपमात्र में चुम्बक होना पर्याप्त है। ईश्वर भी इसी प्रकार मुक्तस्वभाव रागादिरहित है तो भी उस की समीपता=व्यापकता ही उस के अधिष्ठातापन को सिद्ध कर देती है। ईश्वर कुछ नहीं करता, पर उस की सत्ता (होनामात्र) ही प्रकृति और जीवों के अधिष्ठातापन को पर्याप्त है ॥ जैसा कि महादेव वेदान्तिकृत वृत्ति में लिखा है कि—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्त्तते ।
सत्तामात्रेण देवेन तथैवाऽयं जगज्जनिः ॥ १ ॥

जैसे विना इच्छा वाले रत्न (मणि=चुम्बक) के स्थित रहने मात्र में लोहा (आप से आप) प्रवृत्त होता है, वैसे ही सत्तामात्र देव=ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति (आदि) होती है ॥

अत आत्मनि कर्त्तृत्वमकर्त्तृत्वं च संस्थितम् ।
निरिच्छत्वादऽकर्त्ताऽसौ कर्त्ता सन्निधिमात्रतः ॥२॥

इस कारण आत्मा (ईश्वर) में कर्तृत्व और अकर्तृत्व भी अच्छे प्रकार सिद्ध है, वह निरिच्छ होने से अकर्त्ता और सामीप्यमात्र से कर्त्ता है ॥

विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यप्रवचनभाष्य में भी ये दोनों कारिका पाई जाती हैं ॥

और–ईक्षतेर्नाऽशब्दम् इत्यादि वेदान्तसूत्रों और स ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इत्यादि उपनिषद्वचनों में जो ईश्वर का ईक्षण (इरादा) वर्णित है, उस का उत्तर विज्ञानभिक्षु स्वयं देते हैं कि–"तदैक्षत००० श्रुतिस्तु कूलं पिपतिषतीतिवत् गौणी । प्रकृतेरासन्नबहुतरगुणसंयोगात् " ॥

जैसे नदीकूल जब गिरने को होता है, तब कहते हैं कि नदी का किनारा (कूल) गिरना चाहता है, यद्यपि उस कूल में चाहना नहीं है। तद्वत् ईश्वर भी स्वभावसिद्ध सामीप्यमात्र से जगत् को रचने को होता है तब कहते हैं कि ईश्वर जगत् को रचना चाहता है ॥

इस प्रकार सन्निधान (सामीप्य) मात्र से कर्तृत्व माना है और वास्तव में ईश्वर निष्क्रिय है। जैसा कि वेद में भी लिखा है कि तदेजति तन्नैजति (यजुः अध्याय ४०) वह सक्रिय है और निष्क्रिय भी है, स्वरूप से निष्क्रिय और सन्निधान मात्र से स्वभावसिद्ध सक्रिय है। उपनिषद् में भी कहा है कि–स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च इत्यादि=परमेश्वर की ज्ञान बल क्रिया स्वाभाविकी है, रागादि नैमित्तिक नहीं ॥ ९६ ॥

यदि कहो कि सामीप्य मात्र से तो कोई काम नहीं होता, जब तक यत्न पूर्वक कर्त्ता अपने काम को रागासक्त होकर न करे ? क्योंकि ऐसा होता तो

चेतन जीव का भी देह में होना मात्र (सामीप्य मात्र) ही सब काम करा देता, रागप्रयुक्त क्रिया की क्या आवश्यकता थी ? उत्तर—

* विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ॥ ९७ ॥ (९७)

विशेष कार्यों में जीवों का भी (सान्निध्य मात्र से अधिष्ठातापन है)॥

विशेष (ख़ास २) काम ऐसे जीवों के भी हैं जिन को करने में उन्हें रागप्रयुक्त क्रिया नहीं करनी पड़ती, केवल सामीप्य मात्र से सब होता रहता है। जैसे पलक मारना, दिल धड़काना, रक्तवाहिनी नाड़ियों की गति इत्यादि कार्यों में जीवों को रागपूर्वक क्या करना पड़ता है ? कुछ नहीं। अपने आप जीवों के देह में रहने मात्र से सब धन्धा चलता रहता है। हां, जीव देह से निकल जावे तो कुछ नहीं होता ॥ ९७ ॥

सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ॥ ९८ ॥ (९८)

सिद्धस्वरूप और बोधक होने से वाक्यार्थ का उपदेश है ॥

यदि कोई कहे कि ईश्वर के संनिधानमात्र से जगदुत्पत्त्यादि कार्य चल जायं, परन्तु वाक्यार्थ (वेद) का उपदेश तो प्रयत्न से ही होसक्ता है, सामीप्य मात्र से नहीं, इस का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि परमेश्वर सिद्धरूप है, सिद्ध में सर्वशक्तियां स्वाभाविक होती हैं और परमेश्वर बोद्धा अर्थात् चेतन ज्ञानी है, केवल चुम्बकमणि के तुल्य जड़ नहीं, बस चेतन बोधरूप परमात्मा ऋषियों के हृदय में भी सन्निहित था, अतः उस के सन्निधानमात्र से वाक्यार्थोपदेश (वेदोपदेश) भी हो सकता था और होगया ॥ ९८ ॥

यदि पुरुष=जीवात्मा और परमात्मा केवल सन्निधिमात्र से अधिष्ठाता हैं तो इन संकल्प (इरादा) इत्यादि से कौन अधिष्ठाता है ? उत्तर—

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥ ९९ ॥ (९९

अन्तःकरण के उस (पुरुष) द्वारा उज्ज्वलित होने से लोहे के समान (अन्तःकरण को) अधिष्ठातापन है ॥

संकल्पादि अन्तःकरण के अधिष्ठातापन से होते हैं। यदि कहो कि जड़ अन्तःकरण में संकल्पादि कैसे हो सकते हैं तो उत्तर यह है कि अन्तःकरण

स्वयं जड़ है परन्तु पुरुष के सन्निधान से उज्ज्वलित (रोशन) होजाता है। इस में दृष्टान्त लोहे का है। यद्यपि लोहा स्वरूप से न चमकीला है, न दाहक है, परन्तु उस में अग्नि का वास (सन्निधान) होने से वह भी चमकने लगता है और दाह करने लगता है। ऐसे ही जड़ अन्तःकरण भी चेतन पुरुष के सन्निधान से संकल्पादि चेतनों के काम करने लगता है ॥ ९९ ॥

अब दूसरे अनुमान प्रमाण का वर्णन करते हैं:-

* प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥१००॥ (१००)

व्याप्ति के देखने वाले को जो व्याप्तिमान् का ज्ञान होता है, वह अनुमान है ॥

अटल या अव्यभिचारी सम्बन्ध को प्रतिबन्ध या व्याप्ति कहते हैं। जैसे- " जहां २ धुआं होता है, वहां २ अग्नि होता है। " यह धुवें और अग्नि का अटल संबन्ध व्याप्ति कहाता है, इस व्याप्ति के जानने वाले को ऐसे स्थान में भी, जहां धुवां दीखता हो, पर अग्नि न दिखाई पड़े, वहां इस व्याप्ति (प्रतिबन्ध) के सहारे से कि जहां २ रसोई आदि में धुवां है वहां २ अग्नि अवश्य है, इस बात का भी अनुमान प्रमाण से ज्ञान होता है कि पर्वत में धुआं उठता है और अग्नि नहीं दीखता तो भी पर्वत में अग्नि होने का अनुमान किया जाता है ॥ १०० ॥

अब तीसरे शब्द प्रमाण का वर्णन करते हैं:-

* आप्तोपदेशः शब्दः ॥ १०१ ॥ (१०१)

प्रामाणिक (आप्त) के उपदेश को शब्द (प्रमाण) कहते हैं ॥ १०१ ॥

* उभयसिद्धिः प्रमाणात्तदुपदेशः ॥ १०२ ॥ (१०२)

प्रमाण से उभय (प्रकृति और पुरुष) की सिद्धि होती है, अतः उस (प्रमाण) का उपदेश (वर्णन यहां किया गया है) ॥ १०२ ॥

* सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः ॥ १०३ ॥ (१०३)

सामान्यतोदृष्ट (अनुमान) से उभय (दोनों प्रकृति और पुरुष) की सिद्धि होती है ॥

सामान्य से बार २ अनेक स्थानों पर जो बात पाई जाती है उस से किसी अन्य पदार्थ के अनुमान को " सामान्यतोदृष्ट " अनुमान कहते हैं।

यह तीन प्रकार के अनुमान जो न्यायदर्शन अ० १ सू० ५ में कहे हैं उन में से तीसरा अनुमान है। जैसे कोई पदार्थ विना गति क्रिया के एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जासकता। यह अनेक बार देखने से सिद्ध होगया है। बस इसी से देवदत्त को एक स्थान पर देखने पश्चात् अन्यस्थान में देख कर उस की गति क्रिया का अनुमान किया जाता है। इस को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं॥ अब इस सूत्र का अर्थ यह हुआ कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाण से प्रकृति और पुरुष दोनों सिद्ध हैं॥ १०३॥

* चिदवसानो भोगः॥ १०४॥ (१०४)

चेतन आत्मा तक भोग है॥

अर्थात् यदि कोई कहे कि प्रत्यक्ष अनुमान वा शब्द प्रमाण द्वारा जो बोध होता है वह तो बुद्धि को होता है, पुरुष का उस से क्या लगाव? इस के उत्तर में कहते हैं कि इष्टाऽनिष्ट विषयों का अनुभव=भोग, आत्मा चेतन पुरुष तक समाप्त होजाता है। किसी देह को जब पुरुष त्याग देता है तब उस में भोग=इष्टाऽनिष्ट विषयों का अनुभव नहीं होता। इस से जाना जाता है कि यद्यपि पुरुष असंग और स्वरूप से केवल है परन्तु बुद्धि के उपराग से पुरुष को ही सुख दुःख इष्ट अनिष्ट विषयों का भोग=ज्ञान वा अनुभव होता है, स्वतन्त्र जड़स्वरूप बुद्धितत्त्व को नहीं॥ १०४॥

* अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्॥१०५॥ (१०५)

अकर्त्ता (पुरुष) को भी फल का उपभोग अन्नाद्य के समान होता है॥

यद्यपि केवल पुरुष में क्रिया नहीं, अतएव पुरुष अपने स्वरूप से अकर्त्ता है, तथापि जैसे स्वामी के लिये जो रसोइये लोग अन्नाद्य=भोज्य पदार्थ बनाते हैं उस भोज्यपदार्थ का भोग जैसे स्वामी को होता है, तद्वत् पुरुष के लिये जो बुद्धि विषयों का अनुभव करती है, वह विषयभोग आत्मा को होते हैं॥ १०५॥

* अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः॥१०६॥ (१०६)

अथवा अविवेक से (पुरुष में) कर्तृत्व सिद्ध होने से कर्त्ता (पुरुष) को फलभोग की प्राप्ति है॥

इस सूत्र में पूर्व सूत्र से उत्तम समझ कर दूसरा अपना अभिमत पक्ष कपिल मुनि ने कहा है कि यदि कोई अकर्त्ता को फल मिलना असङ्गत समझे तो पुरुष को एक प्रकार से कर्त्ता भी समझना चाहिये। वह प्रकार यह है कि अविवेक वा अज्ञान से पुरुष में बुद्धि का उपराग होता है और उपरक्त पुरुष कर्त्ता बन बैठता है और कर्त्ता बन कर फल भोग का भागी बन जाता है ॥१०६॥

*** नोभयं च तत्त्वाख्याने ॥ १०७ ॥ (१०७)**

तत्त्व के आख्यान में दोनों नहीं ॥

प्रकृति पुरुष के साक्षात् होने को तत्त्व कहते हैं, उस के वर्णन में दोनों नहीं, न तो कर्त्तृत्व, न भोक्तृत्व। मुक्ति अवस्था में न पुरुष कर्त्ता रहता, न भोक्ता। अन्तःकरण बहिःकरणों के त्याग वा छूटने पर केवल पुरुष में न कर्त्तापन है, न भोक्तापन है ॥ १०७ ॥

प्रश्न—जो प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होता, वह है ही नहीं, तब उस को सामान्यतोदृष्ट अनुमान का विषय भी क्योंकर माना जावे ? उत्तर—

*** विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य ॥ १०८ ॥ (१०८)**

अति दूर होने आदि कारणों से और इन्द्रिय के हान तथा अन्यासक्त होने से विषय भी अविषय हो जाता है ॥

प्रत्यक्ष का विषय भी विषय नहीं रहता जब कि अति दूर हो, अति समीप हो, अतिसूक्ष्म हो, परदे में हो, अथवा जिस आंख आदि इन्द्रिय से किसी विषय को प्रत्यक्ष करते हैं उस इन्द्रिय में कोई हान (विकार) हो जाने से वा उस इन्द्रिय के अन्य विषय में लग जाने से। तो क्या उस दशा में जब कि उक्त कारणों में से किसी एक वा अनेक कारणों से कोई विषय प्रत्यक्ष का विषय न रहे, तब क्या उस विषय पदार्थ की सत्ता ही नहीं रहती ? यदि रहती है तो यह प्रश्न ठीक नहीं कि जो प्रत्यक्ष का विषय न हो, वह है ही नहीं ॥ १०८ ॥

*** सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः ॥ १०९ ॥ (१०९)**

सूक्ष्म होने से उन (प्रकृति और पुरुष) की उपलब्धि नहीं होती ॥

पूर्व सूत्रोक्त अतिदूरादि कारणों में से सूक्ष्म होने के कारण से प्रकृति और पुरुष उपलब्ध नहीं होते ॥ १०९ ॥

यदि कहो कि जब उपलब्ध नहीं होते तो, उन के होने में प्रमाण क्या है ? तो उत्तर—

* कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ॥ ११० ॥ (११०)

कार्य के दर्शन से उन (प्रकृति और पुरुष) की उपलब्धि होने से (वे हैं अवश्य) ॥

प्रकृति उपलब्ध न हो, पर उस के स्थूल कार्य उपलब्ध होते हैं, पुरुष भी उपलब्ध न हो, पर उसके भी काम पाये जाते हैं, इस से उन की सिद्धि हो जाती है ॥ ११० ॥ शङ्का:-

* वादिविप्रतिपत्तेस्तदऽसिद्धिरिति चेत् ॥१११॥ (१११)

यदि कहो कि वादी लोग परस्पर एक दूसरे से विरुद्ध हैं इस कारण उन (प्रकृति पुरुष) की सिद्धि नहीं ॥

अर्थात् कार्य को देख कर कारण के अनुमान प्रमाण द्वारा जगत् को देख कर केवल इतना सिद्ध होता है कि कोई कारण अवश्य है, परन्तु यह तो सिद्ध नहीं होता कि वह कारण प्रकृति पुरुष ही हैं। क्योंकि कोई शून्य को कारण बताते हैं, जैसे सौगत। कोई ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बताते हैं, जैसे अद्वैती वेदान्ती। कोई केवल परमाणु (पुरुष नहीं) को कारण मानते हैं, जैसे चार्वाक। तब कार्य को देख कर कारण का अनुमान करने पर भी यह कैसे निश्चय हो कि वह कारण प्रकृति और पुरुष ही हैं ? ॥ १११ ॥ उत्तर-

* तथाप्येकतरदृष्ट्याऽन्यतरसिद्धेर्नाऽपलापः ॥११२॥ (११२)

तो भी एक के देखने से अन्य को सिद्धि से असत्यता नहीं ॥

यद्यपि जगत् के कारण में भिन्न २ मतों का विरोध है, तो भी एकतर (कार्य) के देखने से (अन्यतर) कारण के सिद्ध होजाने से कोई प्रकृति का अपलाप (विरोध) नहीं कर सकता ॥ ११२ ॥ और—

* त्रिविधविरोधापत्तेश्च ॥ ११३ ॥ (११३)

तीन प्रकार के विरोध आपड़ने से भी ॥

यदि प्रकृति को जगत् का कारण न मानें तो तीन प्रकार के विरोध आवेंगे। १-अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णाम्० श्वेताश्वतरोपनिषद् ४। ५ इत्यादि श्रुतियों से विरोध आवेगा। २-प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि नित्यशः॥ गीता ३। २७ इत्यादि स्मृति से विरोध। ३-जैसा कार्य होता है वैसा ही कारण होता है, कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः। इत्यादि न्याय के अनुसार कार्य जगत् में सत्त्व रज तम ३ गुण देखे जाते हैं तब कारण में त्रिगुणात्मकत्व न मानना तीसरा न्याय का विरोध आवेगा। अतएव प्रकृति के जगत्कारणत्व का अपलाप नहीं बन सकता ॥ अथवा त्रिविध विरोध यही समझें कि जगत् यदि त्रिगुणात्मिका प्रकृति का कार्य न होता तो ३ प्रकार के गुण सत्त्व रज तम जगत् में न पाये जाते। पाये जाते हैं, अतएव प्रकृति को जगत्कारण न मानने में त्रिविध विरोध आता है ॥ ११३ ॥

यदि कहो कि असत् से सत् होगया इस कारण त्रिगुणरहित कारण से भी त्रिगुणसहित जगत बन गया, तो उत्तर-

* नाऽसदुत्पादो नृश्टङ्गवत् ॥ ११४ ॥ (११४)

असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जैसे मनुष्य के सींग (नहीं हो सकते) ॥ ॥ ११४ ॥ क्योंकि-

* उपादाननियमात् ॥ ११५ ॥ (११५)

उपादान के नियम से (नृश्रृङ्गादि असत् की उत्पत्ति नहीं होती) ॥ ११५ ॥

* सर्वत्र सर्वदा सर्वाऽसंभवात् ॥ ११६ ॥ (११६)

सर्वस्थानों में सर्वकालों में सब कुछ (उत्पन्न) नहीं हो सकता ॥

यदि उपादान कारण का नियम न होता तो सर्वत्र सब काल में सब कुछ उत्पन्न हो जाता। गेहूं बोने से चने हो जाते। ऊषर भूमि में अङ्कुर उपजते। मनुष्य के वीर्य से पशु उत्पन्न होते। परन्तु ऐसा नहीं होता, जिस से उपादान कारण का नियम सिद्ध होता है कि नियमानुसार ही कारणगुणानुकूल कार्यगुण पाये जाते हैं और पाये जायेंगे ॥ ११६ ॥

* शक्तस्य शक्यकरणात् ॥ ११७ ॥ (११७)

शक्तिमान् भी शक्य को ही करता है इस से (भी नियम पाया जाता है)।

असत् कारण में सत् कार्य की उत्पत्ति करने का सामर्थ्य नहीं। जो जि कार्य के उत्पन्न करने को शक्त (समर्थ) है और जो उस को उत्पन्न करना शक्य है, उसी का वह उत्पन्न कर सकता है। इस से भी असत् से सत् की उत्पत्ति संभव नहीं ॥ ११७ ॥

* कारणभावाच्च ॥ ११८ ॥ (११८)

कारण के भाव से भी (असदुत्पत्ति नहीं हो सकती) ॥

कार्य के लिये कारण आवश्यक देखा जाता है इस लिये कारणभाव से भी असत् से सत् नहीं हो सकता ॥ ११८ ॥ शङ्का—

* न, भावे भावयोगश्चेत् ॥ ११९ ॥ (११९)

यदि भाव में भाव माना जावे तो (उत्पत्ति व्यवहार) नहीं हो सका ॥

यदि कारण के भाव में कार्य भी उत्पत्ति से पहले ही वर्त्तमान था, तो किसी पदार्थ की उत्पत्ति अनुत्पत्ति बराबर है। अतएव उत्पत्ति कहना ही न बनेगा ॥ ११९ ॥ उत्तर—

* नाऽभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराऽव्यवहारौ ॥१२०॥ (१२०)

नहीं, क्योंकि व्यवहार अव्यवहार प्रकट होने से सम्बन्ध रखते हैं ॥

चाहे कारण में अप्रकटरूप से कार्य पहले विद्यमान हो, पर प्रकट होने से उत्पन्न होने का व्यवहार किया जाता है, और प्रकट न होने तक उत्पन्न होने का व्यवहार नहीं होता, अतः उक्त शङ्का नहीं आ सकती ॥ १२० ॥

* नाशः कारणलयः ॥ १२१ ॥ (१२१)

कारण में (कार्य का) लीन होना=नाश है ॥

यदि कोई समझे कि जब प्रत्येक कार्य सद्रूप वा भावरूप ही है, तो किसी के नाश का क्या अर्थ होगा ? उत्तर—केवल कारण में कार्य का लय हो जाना ही नाश है, भाव से अभाव हो जाना=नाश नहीं है, न अभाव से भाव हो जाना=उत्पत्ति है ॥ १२१ ॥

* पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत् ॥१२२॥ (१२२)

बीज और अङ्कुर के समान परम्परा से खोजना चाहिये ॥

यदि कोई कहे कि कारण में लय का नाम नाश है तो कार्य से कारण भी हुवा। इस दशा में किसे कारण कहें और किसे कार्य? तो उत्तर यह है कि जैसे बीज से अङ्कुर, अङ्कुर से बीज, बीज से पुनः अङ्कुर। इस परम्परा में भी प्रथम बीज=कारण, फिर अङ्कुर=कार्य माना जाता है, ऐसे ही कारण प्रथम और कार्य पश्चात् होने वाले को कहेंगे ॥ १२२ ॥

* उत्पत्तिवद्वाऽदोषः ॥ १२३ ॥ (१२३)

अथवा उत्पत्ति के समान (अभिव्यक्ति में भी) दोष (अनवस्था) नहीं॥

जैसे असत्कार्यवादी उत्पत्ति और नाश में अनवस्था दोष नहीं मानते वैसे ही हम सत्कार्यवादी (सांख्य) अभिव्यक्ति को भी अभिव्यक्तिस्वरूप ही मानते हैं, अतएव हमारे मत में दोष नहीं आता ॥ १२३ ॥

अब यह कहेंगे कि चाहे उत्पत्ति वा अभिव्यक्ति से पूर्व कार्य की अनभिव्यक्तता हो, और इस के आधार पर नित्या प्रकृति पदार्थ भी सिद्ध हो, तो भी "यह कार्य है और यह कारण है" ऐसा विवेक ज्ञान कैसे हो, जब कि दोनों एक से जान पड़ते हैं? इस के उत्तर में उपयोगी जानकर साधर्म्य वैधर्म्य प्रकरण का आरम्भ करते हुवे, प्रथम महत्तत्व से लेकर महाभूतों तक व्यक्त कार्यों का साधर्म्य वर्णन करते हैं:-

* हेतुमदऽनित्यमऽव्यापि सक्रियमनेक-
माश्रितं लिङ्गम् ॥ १२४ ॥ (१२४)

लिङ्ग=हेतुवाला, अनित्य, अव्यापि, सक्रिय, अनेक और आश्रयवान् होता है ॥

कारण प्रकृति में लीन होजाने वाले होने से महत्तत्वादि पञ्चमहाभूत-पर्यन्त कार्य पदार्थों को लिङ्ग कहा गया है, उस लिङ्ग के इतने विशेषण हैं १-कारणवाला हो, २-अनित्य हो, ३-जो प्रत्येक परिणामि पदार्थ में व्याप न सके, ४-क्रियासहित हो, ५-संख्या में अनेक हो, एक अद्वितीय न हो, ६-आश्रित अर्थात् सहारे वा आधारवाला हो, निराधार न हो ॥

इस में ईश्वरकृष्ण जी ने सांख्यकारिका में २ विशेषण अधिक दिये हैं, यथा-

हेतुमदऽनित्यमऽव्यापि, सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं, व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १ ॥

परन्तु सावयव और परतन्त्र, ये विशेषण प्रकृति में भी घटते हैं इस लिये यह कारिकाकार का मत हमारी समझ में युक्त नहीं जान पड़ता ॥१२४॥

यदि कोई उक्तलक्षणविशिष्ट महत्तत्त्वादि महाभूतान्त कार्यों के अतिरिक्त कारण को न माने तो उस के उत्तर में कहते हैं:-

* आञ्जस्यादऽभेदतोवा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा ॥ १२५ ॥ (१२५)

आञ्जस्य=कार्य कारण के अन्वय और व्यतिरेक से, वा गुणों की समानतादि से अभेद होने से उस (कारण) की सिद्धि है, अथवा (शास्त्रों में) प्रधान शब्द के व्यपदेश (कथन) से ॥

कारण के गुण कार्य में अन्वय रखते हैं, कारण में जो गुण न हों वे कार्य में भी नहीं होते, यह व्यतिरेक हुआ, इन दोनों को आञ्जस्य कहते हैं, इस अन्वयव्यतिरेक से कारण और कार्य में अभेद होता है, अथवा यूं कहिये कि गुण के समान होने आदि से, अथवा शास्त्र में प्रधान शब्द के निर्देश से जो प्रकृति का पर्याय है, यह सिद्ध होता है कि महत्तत्त्वादि का कारण प्रकृति है। महत्तत्त्वादि में परस्पर हेतुमत्त्वादि साधर्म्य है, उस के विपरीत प्रकृति में हेतुमत्त्वादि विशेषण नहीं घटते, अतएव प्रकृति से विकृतियों (महत्तत्त्वादि) का वैधर्म्य है ॥ १२५ ॥ और-

* त्रिगुणाऽचेतनत्वादि द्वयोः ॥ १२६ ॥ (१२६)

त्रिगुणवान् होना, अचेतन होना इत्यादि (साधर्म्य) दोनों (कार्य और कारण) में है ॥ १२६ ॥

* प्रीत्यऽप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानाम-ऽन्योन्यं वैधर्म्यम् ॥ १२७ ॥ (१२७)

प्रीति, अप्रीति और विषाद आदि से गुणों में परस्पर वैधर्म्य है ॥

प्रीति=सुख इत्यादि, अप्रीति=अप्रसन्नता वा दुःख इत्यादि और विषाद=मोह इत्यादि असाधारण धर्मों से गुणों (सत्त्व रजस् तमस्) में परस्पर विरुद्धधर्मता है ॥

प्रीति, लघुपना, सहनशीलता, सन्तोष, सरलता, कोमलता, लज्जा, श्रद्धा, क्षमा, दया, ज्ञान इत्यादि नाना रूप और नाना भेद वाला सत्त्व गुण है; दुःख, शोक, द्वेष, द्रोह, मात्सर्य, निन्दा, पराभव, चञ्चलता इत्यादि नाना रूप और भेद रजोगुण के हैं और मोह, भय, ठगई, नास्तिकता, कुटिलता, कृपणता, भारीपन, अज्ञान इत्यादि अनेक नाम रूप भेद तमोगुण में हैं। इस प्रकार ये तीनों गुण इन धर्मों से परस्परविरुद्ध धर्म वाले हैं ॥ १२७ ॥

अब साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों दिखाते हैं:—

* लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् ॥१२८॥ (१२८)

लाघव आदि धर्मों से गुणों में साधर्म्य और वैधर्म्य भी है ॥

जब पूर्व सूत्र में वैधर्म्य बता चुके तब इस सूत्र में पुनः वैधर्म्यम् पाठ व्यर्थ जान पड़ता है, और वैधर्म्य का कुछ ब्यौरा (विवरण) भी इस सूत्र में नहीं किया। विज्ञानभिक्षु भी इस सूत्र के पाठ (वैधर्म्यं) को प्रामादिक=भूल का बताते हैं, और गुणानां पाठ पूर्व सूत्र में था ही, उस की अनुवृत्ति और प्रकरण होते हुवे पुनः इस सूत्र में भी गुणानां पाठ पुनरुक्त होने से व्यर्थ है। इस पुनरुक्ति पर न तो विज्ञानभिक्षु ने, न महादेव वेदान्ती ने, न स्वामी हरिप्रसाद जी ने, और न पं० आर्यमुनि जी ने, चार टीका हमारे सामने हैं, किसी ने कुछ नहीं लिखा। जब कि लघुत्व सत्त्व का, चलत्व रजस् का और गुरुत्व तमस् का धर्म है और लघुत्व चलत्व गुरुत्व तीनों भिन्न २ हैं तब लघुत्वादि धर्मों से गुणों में साधर्म्य कहां हुवा, किन्तु वैधर्म्य हुवा, सो पूर्व सूत्र से ही कहा गया, इस सूत्र ने विशेष कुछ नहीं कहा, अतः व्यर्थ जान पड़ता है। किसी अन्य टीकाकार ने भी इस दोष पर दृष्टि नहीं डाली, हां अर्थ में अपनी कल्पना की है जो सूत्रार्थ नहीं है, जैसा कि विज्ञानभिक्षु और महादेव वेदान्ती कहते हैं कि—

अयमर्थः-लघ्वादीति भावप्रधानोनिर्देशः। लघुत्वादिधर्मेण सर्वासां सत्त्वव्यक्तीनां साधर्म्यं, वैधर्म्यं च रजस्तमोभ्याम्।......एवं चञ्चलत्वादिधर्मेण सर्वासां रजोव्यक्तीनां साधर्म्यं, वैधर्म्यं च सत्त्वतमोभ्याम्। शेषं पूर्ववत्। एवं गुरुत्वादिधर्मेण सर्वासां तमोव्यक्तीनां साधर्म्यं, वैधर्म्यं च सत्त्वरजोभ्याम्। शेषं पूर्ववदिति ॥

इसी आशय का पाठ महादेव वेदान्तिकृत वृत्ति में है। इन का आशय यह है कि लघुत्व, प्रीति, सहनशीलता, सन्तोष, सरलता, कोमलता, लज्जा इत्यादि जो पूर्वसूत्र में सत्त्व की अनेक व्यक्तियां कही हैं, उन में परस्पर साधर्म्य है, और सत्त्वव्यक्तियों का रजस् तमस् की व्यक्तियों से वैधर्म्य है। इसी प्रकार चञ्चलता, दुःख, शोक, द्वेष इत्यादि रजोगुणव्यक्तियों में परस्पर साधर्म्य और सत्त्व तथा तमोव्यक्तियों से वैधर्म्य है। इसी प्रकार तमस् की गुरुत्व, मोह, भय, नास्तिकता, अज्ञान इत्यादि व्यक्तियों में परस्पर साधर्म्य है और सत्त्व रजस् की व्यक्तियों से वैधर्म्य है ॥

बात तो ठीक है, पर सूत्र तो गुणानां पाठ से गुणों के साधर्म्य वैधर्म्य को कहता है, और ये टीकाकार एक एक गुण की अनेक व्यक्तियों के साधर्म्य को कहते हैं। इसलिये हमारी सम्मति में ठीक नहीं। अन्य दो टीकाकार पुरुषार्थत्व से गुणों का साधर्म्य बताते हैं, वह बात भी ठीक है कि सत्त्व भी पुरुष के लिये, रजस् और तमस् भी। इस अंश में तीनों की सत्ता पुरुष के भोग मोक्ष का हेतु होने में तीनों का साधर्म्य है, परन्तु सूत्र में पुरुषार्थ का अंशमात्र भी वर्णन नहीं। उन टीकाकारों ने आदि शब्द से भी पूर्व सूत्र की टीका में पुरुषार्थत्व का संग्रह नहीं किया ॥

हां, सांख्यकारिका में तो सत्त्वादि की व्यक्तियां गिनाई हैं, उन में पुरुषार्थत्वादि का कथन है। यथा—

सत्त्वं लघु प्रकाशक-मिष्टमुपष्टम्भकं, चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः—प्रदीपवच्चार्थतोवृत्तिः ॥ १३ ॥

प्रीत्यप्रीतिविषादा-त्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रय-जननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥

परन्तु यह कारिकार्थ होसक्ता था, सूत्रार्थ नहीं। यह ठीक है कि तीनों गुणों से पुरुष के लिये होना, एक दूसरे को दबाने वाला होना, आश्रयवृत्ति होना, जननवृत्ति होना, मिथुनवृत्ति होना, इत्यादि से गुणों का परस्पर साधर्म्य है, परन्तु सूत्रोक्त लघुत्वादि से तो साधर्म्य नहीं, किन्तु वैधर्म्य है। इसलिये चाहे सब टीकाकार कारिकोक्त विषय का कथन ठीक २ करते हैं, परन्तु सूत्र की व्यर्थता का समाधान उस से नहीं होता॥

दर्शनकार जैसे सूक्ष्मदर्शियों से ऐसी पुनरुक्ति और व्यर्थ पाठ लिखे जाने की आशा नहीं होती, न जाने किस प्रकार कब किस ने यह सूत्र बढ़ा दिया हो॥१२८॥

* उभयान्यत्वात्कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् ॥१२९॥ (१२९)

दोनों (प्रकृति पुरुष) से अन्य होने रूप कारण से महत्तत्त्वादि को कार्यत्व है, जैसे घटादि को॥

महत्तत्त्व से लेकर स्थूल भूतों पर्यन्त कार्य हैं, कारण नहीं। क्योंकि न तो महत्तत्त्वादि प्रकृति हैं, न पुरुष हैं, किन्तु दोनों से भिन्न हैं, अतः वे कार्य हैं॥ १२९॥ और—

* परिमाणात् ॥ १३० ॥ (१३०)

परिमाण से (भी महत्तत्त्वादि कार्य हैं)॥

महत्तत्त्वादि परिमित वा परिच्छिन्न हैं, इस से भी वे कार्य हैं। जैसे घटादि परिछिन्न और कार्य हैं॥ १३०॥ और—

* समन्वयात् ॥ १३१ ॥ (१३१)

समन्वय से (भी महदादि कार्य हैं)॥

कारण के गुणों का कार्य में अन्वय=समन्वय कहाता है। महदादि में सत्वादि कारणों के गुण आते हैं, इस से भी महदादि कार्य हैं। जैसे घटादि में मृदादि कारण के गुण पाये जाते हैं, जैसी मिट्टी होगी, वैसा उस से घट बनेगा, जैसी चांदी वा सुवर्ण होगा वैसे उस से कुण्डलादि भूषण बनेंगे। ऐसे

ही रजोगुण से राजसी बुद्धि (महत्) आदि बनते हैं, तमोगुण से तामसी और सत्वगुण से सात्विकी। इस से भी महत्तत्त्व (बुद्धि) आदि का कार्यत्व सिद्ध है ॥ १३१ ॥ और—

* शक्तितश्चेति ॥ १३२ ॥ (१३२)

शक्ति से भी (महदादि कार्य हैं) ये कार्यत्व के हेतु समाप्त हुवे ॥

महदादि में प्रकृति से न्यून शक्ति है क्योंकि प्रत्येक कारण में कार्य से न्यून शक्ति होती है, एक मृत्तिकादि कारण अनेक घटादि बनने की शक्ति रखता है, कारण का एक देश एक कार्य को बना सक्ता है, पर कार्य का एक देश तो क्या, समस्त कार्य भी कारण को पूर्ण नहीं कर सक्ता। इस न्यून शक्ति से भी पाया जाता है कि प्रकृति बहुत है, तदपेक्षया महत्तत्त्वादि अल्प होने से अल्प शक्ति वाले हैं, अतएव कार्य हैं। सूत्र में इति शब्द इस लिये है कि महदादि के कार्यत्व सिद्ध करने के जितने हेतु देने थे, पूरे हो गये ॥ १३२ ॥

यदि कहो कि महदादि के कार्यत्व सिद्ध करने की क्या आवश्यकता थी, क्यों इतने हेतु देकर उन के कार्यत्व साधने में श्रम किया ? तो उत्तर—

* तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा ॥ १३३ ॥ (१३३)

उस (कार्यत्व) की हानि में प्रकृति वा पुरुष (मानना पड़ेगा) ॥

यदि महत्तत्त्वादि को कार्यत्व न सिद्ध किया जाता तो ये महत्तत्त्वादि भी या तो परिणामि होते तो प्रकृति होते और अपरिणामि होते तो पुरुष। क्योंकि कारण तो दो ही हैं, प्रकृति और पुरुष। महत्तत्त्वादि भोग्य हैं और विनाशी हैं अतः इन को प्रकृति वा पुरुष नहीं मान सकते। इस लिये कार्यत्व सिद्ध करना आवश्यक था ॥ १३४ ॥

यदि कहो कि कार्य कारण दोनों से विलक्षण मान लिया जाता तो क्या हानि थी ? तो उत्तर—

* तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ॥ १३४ ॥ (१३४)

इन दोनों से अन्य हों तो तुच्छता (होगी) ॥

यदि महदादि को प्रकृति पुरुष से भी अन्य माना जाय और कार्य भी न माना जाय तो तुच्छ (कुछ नहीं) मानना पड़ेगा। क्योंकि कार्य कारण को छोड़ कर कोई पदार्थ कुछ हो नहीं सक्ता ॥ १३५ ॥

इस प्रकार महदादि को कार्यत्व सिद्ध करके, अब कार्य से कारण का अनुमान जो पहले नहीं कहा, कहते हैं:—

* कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात् ॥ १३५ ॥ (१३५)

कार्य से कारण का अनुमान होता है, उस (कार्य) के साहित्य से ॥

कार्य सदा कारणसहित होता है, इस साहित्य हेतु से कार्य (महदादि) से कारण (प्रकृति) का अनुमान होता है क्योंकि कार्य कारण से पृथक् नहीं होता ॥ १३५ ॥ कारण कैसा है सो बताते हैं:—

* अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात् ॥ १३६ ॥ (१३६)

त्रिगुण लिङ्ग से (प्रकृति) अव्यक्त है ॥

महत्तत्वादि जो त्रिगुणात्मक कार्य हैं वे व्यक्त वा स्थूल हैं और प्रकृति इन से सूक्ष्म है इस लिये उस का दूसरा नाम अव्यक्त है ॥ १३६ ॥

यदि कहो कि जब व्यक्त (प्रकट) नहीं तब उस अव्यक्त प्रकृति के होने में प्रमाण ही क्या है? कोई कह सकता है कि प्रकृति कोई वस्तु नहीं? उत्तर—

* तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ॥ १३७ ॥ (१३७)

उस (प्रकृति) के कार्य (महत्तत्वादि से) उस की सिद्धि होने से अपलाप (खण्डन वा असिद्धि) नहीं हो सकता ॥ १३७ ॥

* सामान्येन विवादाऽभावाद्धर्मवन्न साधनम् ॥१३८॥ (१३८)

सामान्यतः विवाद न होने से (पुरुष का) सिद्ध करना (आवश्यक) नहीं, जैसे धर्म विषय में ॥

पुरुष को सामान्यतः सभी मानते हैं, इस में कुछ विवाद नहीं, अतः उस की सिद्धि में यत्न करना आवश्यक नहीं। जैसे धर्म सामान्य में विवाद नहीं, सभी धर्म को मानते हैं ॥ १३८ ॥ परन्तु सामान्यतः विवाद न होने पर भी विशेषतः विवाद है। कोई देह को पुरुष मानते हैं, कोई बुद्धि को, कोई अन्तःकरण को, इत्यादि शङ्का निवारण के लिये पुरुष को देहादि से पृथक् निरूपणार्थ कहते हैं कि—

* शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ॥ १३९ ॥ (१३९)

शरीर (मन बुद्धि) आदि से पुरुष भिन्न है ॥ १३९ ॥ क्योंकि:—

* संहतपरार्थत्वात् ॥ १४० ॥ (१४०)

संहतों (प्रकृति, महदादि) के परार्थ होने से (पुरुष इन से भिन्न है)॥ इसी अध्याय के सूत्र (६६) " संहतपरार्थत्वात्पुरुषस्य " में यही हेतु दे चुके हैं और उस की व्याख्या हम वहां कर आये हैं, यहां प्रसङ्ग आजाने से पुनः वही हेतु फिर देदेना पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥१४०॥ दूसरा हेतु यह है:—

* त्रिगुणादिविपर्ययात् ॥ १४१ ॥ (१४१)

त्रिगुणादि के विपरीत होने से (भी पुरुष भिन्न है) ॥

शरीरादि त्रिगुणात्मक हैं, अचेतन हैं, अविवेकी हैं, पुरुष इस के विपरीत त्रिगुणरहित, चेतन, विवेकी इत्यादिविशेषणविशिष्ट है, अतः वह शरीरादि से अतिरिक्त है ॥ १४१ ॥ तीसरा हेतु यह है कि:—

* अधिष्ठानाच्चेति ॥ १४२ ॥ (१४२)

अधिष्ठाता होने से (भी पुरुष देहादि से भिन्न है) इति ॥

पुरुष देहादि पर अधिष्ठाता है, अतः वह स्वयं भिन्न है । इति शब्द इस विषय के हेतुओं की समाप्ति के सूचनार्थ है ॥ १४२ ॥ अब अधिष्ठाता होने में हेतु देते हैं:—

* भोक्तृभावात् ॥ १४३ ॥ (१४३)

भोक्ता होने से (पुरुष अधिष्ठाता है) ॥ १४३ ॥ और—

* कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १४४ ॥ (१४४)

मोक्ष के लिये प्रवृत्ति होने से भी (पुरुष अधिष्ठाता है) ॥

यदि पुरुष अधिष्ठाता न होता तो देहरूप होने से देह को छोड़कर मोक्ष की इच्छा न करता, इच्छा करता है, इस से पुरुष देहादि का अधिष्ठाता है देहादि नहीं ॥ १४४ ॥

*जड़प्रकाशाऽयोगात्प्रकाशः ॥ १४५ ॥ (१४५)

जड़ में प्रकाश (ज्ञान) के अयोग से (पुरुष) प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप है ॥

अथवा—जड़प्रकाश (भौतिक प्रकाश) के योग न होने से पुरुष अभौतिक वा अप्राकृत प्रकाश (ज्ञान) रूप है ॥ १४५ ॥ और—

* निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ॥ १४६ ॥ (१४६)

निर्गुण होने से (पुरुष) चिद्धर्मा (चित्त) नहीं है ॥

पुरुष निर्गुण है, उस में सत्त्व रजस् तमस् नहीं अतः वह चित्त आदि के समान चेतनता के आभास रूप धर्मवाला नहीं, किन्तु चिद्रूप का ज्ञानरूप ही है ॥ १४६ ॥

यदि कहो कि " मैं जानता हूं " इत्यादि व्यवहार से चित्त के धर्मों को पुरुष में देखते हैं, तब वह निर्गुण कैसे हो सकता है ? तो उत्तर—

* श्रुत्या सिद्धस्य नाऽपलापस्तत्प्रत्यक्षबाधात् ॥१४७॥ (१४७)

श्रुति से सिद्ध (निर्गुणत्व) का अपलाप (खण्डन) नहीं हो सकता, उस का प्रत्यक्ष से बाध होने पर भी ॥

यद्यपि प्रत्यक्ष में पुरुष ऐसा व्यवहार करते हैं कि मैं कृश हूं, मैं मोटा हूं, गोरा हूं, काला हूं, इत्यादि, तथापि यह कथन अविवेक से प्रत्यक्ष में सुनने कहने में आ रहा है, इतने से असंगोह्यय्यं पुरुषः बृहदारण्यक उपनिषद् अ० ६ । ब्रा० ३ । १५ इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित निर्गुणत्व का खण्डन नहीं कर सकते ॥ १४१ ॥ क्योंकि—

* सुषुप्त्याद्यऽसाक्षित्वम् ॥ १४८ ॥ (१४८)

सुषुप्त्यादि का साक्षी होना न बनेगा ॥

यदि पुरुष असंग निर्गुण न हो तो सुषुप्ति गहरी नींद सोकर उठकर जो कहता है कि " सुखमहमस्वाप्सम् " मैं सुख से सोया । इत्यादि साक्षीपना पुरुष में न बनेगा । क्योंकि सुषुप्ति आदि में गुण तो लीन होजाते हैं ॥१४८॥

* जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥ १४९ ॥ (१४९)

जन्म आदि व्यवस्था से पुरुष बहुत हैं, (ऐसा सिद्ध होता है) ॥

एक देह को त्याग कर दूसरे देह में जाने से पुरुष के जन्म मरण का व्यवहार है, यदि पुरुष एक विभु सर्वव्यापक होता है तो देह से निकलना आना जाना आदि व्यवस्था न होती । होती है । इस से पाया जाता है कि पुरुष बहुत अनेक असंख्य हैं, एक नहीं ॥ १४९ ॥ पूर्वपक्ष—

* उपाधिभेदेप्येकस्य नानायोग
आकाशस्येव घटादिभिः ॥ १५० ॥ (१५०)

उपाधिभेद में एक को भी अनेक (नाना) पन हो सक्ता है, जैसे घटादि (उपाधियों) से आकाश को ॥

अर्थात् जैसे आकाश एक है, पर घट पट मठ आदि उपाधि भेद से घटाकाश पटाकाश मठाकाश इत्यादि बहुत्व आकाश में होसक्ते हैं, वैसे ही एक पुरुष भी अनेक अतःकरणोपाधि भेद से बहुत माने जा सक्ते हैं, तब जन्मादि व्यवस्था से भी पुरुषबहुत्व मानना ठीक नहीं ॥ १५० ॥ उत्तरपक्ष—

उपाधिर्भिद्यते, न तु तद्वान् ॥ १५१ ॥ (१५१)

उपाधि भिन्न २ होती हैं, न तु उपाधिमान् ॥

उपाधिकृत भी पुरुष को बहुत्व नहीं बन सकता, क्योंकि उपाधि अनेक होने पर भी उपाधिमान् पुरुष तौ एक ही रहा, फिर एक में किसी का जन्म, किसी का मरण इत्यादि व्यवस्था कैसे बनेगी ? अतः जन्म मरण आदि व्यवस्था बहुत पुरुष मानने पर ही ठीक हो सकती है ॥

आज कल जो नवीन वेदान्ती लोग उपाधिकृत ब्रह्म को जीवत्व और अनेत्व बताया करते हैं, उस का खण्डन इन सूत्रों में भले प्रकार होगया है। कोई कोई लोग कहा करते हैं कि वास्तविक वेदान्त में तौ जीव ब्रह्म की एकता वा अभेद ही है, स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने खेंच तान से भेद बताया और उन बेचारे वेदान्तियों को नवीन वेदान्ती कहदिया है। परन्तु हम देखते हैं कि विज्ञानभिक्षु जी ने भी इन सूत्रों के सांख्यप्रवचन भाष्य में ऐसे अभेदवादी एकात्मवादी वेदान्तियों को नवीन वेदान्ती कह कर उन का खण्डन किया है। यथा—

यदपि केचित् नवीना वेदान्ति ब्रुवा आहुः—एकस्यैवात्मनः कार्यकारणोपाधिषु प्रतिबिम्बानि जीवेश्वराः प्रतिबिम्बानां चाऽन्योन्यं भेदाज्जन्माद्यखिलव्यवहारोपपत्तिः। तदप्यसत् ॥

जो कि कोई कोई अपने को वेदान्ती कहने वाले नवीन कहते हैं कि एक ही आत्मा के कार्य कारण उपाधियों में प्रतिबिम्ब=जीव ईश्वर हैं और प्रतिबिम्बों में आपस में भेद होने से जन्मादि सब व्यवहारसिद्धि है, यह भी असत् है ॥

आगे विज्ञानभिक्षु जी ने इस मत के असत् होने में हेतु दिये हैं और लम्बा व्याख्यान किया है, जो ग्रन्थ बढ़ने के भय से हमने उद्धृत नहीं किया, केवल यह दिखला दिया है कि स्वामी दयानन्द से पहले भी विज्ञानभिक्षु जैसे लोग इन को नवीन वेदान्ती बतागये और इन के एकात्मवाद का खण्डन करगये हैं ॥ १५१ ॥

* एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्माऽध्यासः ॥ १५२ ॥ (१५२)

इस प्रकार एकभाव से सर्वत्र वर्त्तमान (पुरुष) को विरुद्ध धर्मों का अध्यास नहीं बन सक्ता ॥

अर्थात् यदि पुरुष एक ही हो तो फिर कोई पुरुष सुखी, कोई दुःखी इत्यादि परस्पर विरुद्ध धर्मों का व्यवहार जो प्रत्यक्ष देखा जाता है, नहीं बन सकता । तब बहुत पुरुष मानना ही ठीक है ॥ १५२ ॥

यदि कहो कि सुख दुःखादि बुद्धि के धर्म पुरुष में आरोपितमात्र हैं, वास्तविक नहीं, इस कारण एक पुरुष मानने में क्या दोष है ? तो उत्तर—

* अन्यधर्मत्वेऽपि नाऽऽरोपात्तत्सिद्धिरेकत्वात् ॥१५३॥ (१५३)

अन्य का धर्म होने पर भी आरोप से उस (सुखी दुःखीपन) की सिद्धि नहीं, एक होने से ॥

यदि सुख दुःखादि को अन्य का धर्म अर्थात् बुद्धि का धर्म ही माना जावे और पुरुष में केवल आरोपमात्र से सुख दुःख मानें, तो भी विरुद्ध धर्मों (सुख दुःखादिकों) की व्यवस्था न बनेगी, क्योंकि (एकत्वात्) आरोप का अधिष्ठान (पुरुष) एक होने से ॥ इस विषय में श्रीमान् स्वतन्त्रचेता विज्ञानभिक्षु का प्रवचनभाष्यांश देखने योग्य है । वे कैसा स्पष्ट अद्वैतवाद का खण्डन करते हैं कि—

इमां बन्धमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्तिं सूक्ष्मामऽबुद्ध्वैवाऽऽधुनिका वेदान्तिब्रुवा उपाधिभेदेन बन्धमोक्षव्यवस्थामैकात्म्येऽप्याहुस्तेऽप्यऽनेन निरस्ताः । येऽपि तदेकदेशिन इमामेवाऽनुपपत्तिं पश्यन्त उपाधिगतचित्प्रतिबिम्बानामेव बन्धादीन्याहुस्तेत्वतीव भ्रान्ताः । उक्ताद्भेदाभेदादिविकल्पाऽसहत्वात् । अन्तःकर-

णस्य तदुक्तस्खलितत्वादित्यत्रोक्तदोषाच्च । किञ्च वेदान्तसूत्रे क्वापि सर्वात्मना-त्यन्तैक्यं नोक्तमस्ति, प्रत्युत-" भेदव्यपदेशाच्चान्यः " । " अधिकं तु भेदनिर्देशात् " । " अंशो नानाव्यपदेशात् " इत्यादिसूत्रैर्भेद उक्तः अत आधुनिकानामवच्छेदप्रतिबिम्बादिवादा अपसिद्धान्ता एव । स्वशास्त्रा-ऽनुक्तसंदिग्धार्थेषु समानतन्त्रसिद्धान्तस्यैव सिद्धान्तत्वाच्चेत्यादिकं ब्रह्ममीमांसा भाष्ये प्रतिपादितमस्माभिः॥ (सांख्यप्रवचन काशी भारतजीवन प्रेस सं० १९४६)

तात्पर्य–इस बन्ध मोक्षादि व्यवस्था की असिद्धि को जो सूक्ष्म है, न जानकर ही नवीन आधुनिक वेदान्तिब्रुव लोग एकात्मवाद में भी उपाधिभेद से बन्धमोक्षव्यवस्था कहते हैं, वे लोग भी इस (सूत्रोक्तहेतु) से निरुत्तर हुवे। और जो उन के एकदेशी लोग इसी अनुपपत्ति को देखते हुवे, उपाधिगत चित्प्रतिबिम्बों को बन्ध मोक्षादि कहते हैं वे तो अत्यन्त भ्रम में हैं । उक्त भेद अभेद आदि विकल्पों को न सहारसकने से, और अन्तःकरण के उस (चित्) से प्रकाशित होने में भी उक्त दोष से। किंच–किसी भी वेदान्तसूत्र में सब आत्माओं को अत्यन्त एकता नहीं कही है, प्रत्युत–"भेदव्यप०","अधिकं तु भेदनि०" " अंशोनानाव्य० " इत्यादि (वेदान्त) सूत्रों से भेद कहा है । इस कारण आधुनिकों (नवीनों) के अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद इत्यादि वाद अप-सिद्धान्त ही हैं । हमने ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त) के भाष्य में प्रतिपादन किया है कि अपने शास्त्र में न कहे हुवे संदेहयुक्त विषयों में समान शास्त्र का सिद्धान्त ही (अपना) सिद्धान्त होता है, इत्यादि ॥ १५३ ॥

यदि कहो कि अद्वैतश्रुतियों से विरोध आवेगा ? तो उत्तर–

* नाऽद्वैतश्रुतिविरोधोजातिपरत्वात् ॥ १५४ ॥ (१५४)

जातिपरक होने से अद्वैतश्रुतियों से विरोध नहीं ॥

जो श्रुतियें आत्मा वा पुरुष के अद्वैत होने का प्रतिपादन करती हैं, उन्हों आत्मा आत्मा वा पुरुष पुरुष सब एक जाति के (एक से) होने से एकत्व वा अद्वैत कहा है, स्वरूप से एकत्व वा अद्वैत नहीं, इस कारण पुरुषनानात्व उन अद्वैतश्रुतियों का विरोध नहीं आता । देखना चाहिये कि सांख्याचार्य श्रीकपिल मुनि श्रुतिविरोध (वेदविरोध) का कैसा परिहार करते हैं जि से उन की वेदों पर श्रद्धा और आस्तिकता कैसी स्पष्ट प्रकाशमान है,

पर भी जो सांख्यकार को नास्तिक (वेदनिन्दक) कहते हैं वे कितनी बड़ी भूल करते हैं। इस सूत्र का भी अन्य इस प्रकरणोक्त सूत्रों के अनुसार यही तात्पर्य है, इस बात को विज्ञानभिक्षु का प्रवचनभाष्य और भी स्पष्ट करता है, देखिये—

ननु एवं पुरुषनानात्वे सति—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ।
एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः ॥ २ ॥

इत्याद्याः श्रुतिस्मृतय आत्मैकत्वप्रतिपादिका नोपपद्यन्ते, तत्राह—" नाद्वैतश्रुतिविरोधो० " आत्मैक्यश्रुतीनां विरोधस्तु नास्ति, तासां जातिपरत्वात् । जातिः सामान्यमेकरूपत्वं, तत्रैवाऽद्वैतश्रुतीनां तात्पर्यात्, न त्वऽखण्डत्वे, प्रयोजनाऽभावादित्यर्थः । जातिशब्दस्य चैकरूपार्थकत्वमुत्तरसूत्राल्लभ्यते । यथाश्रुतजातिशब्दस्यादरे— " आत्मा इदमेक एवाऽग्र आसीत् । सदेव सौम्येदमग्र आसीत् । एकमेवाऽद्वितीयम् । " इत्याद्यऽद्वैतश्रुत्युपपादकतयैव सूत्रं व्याख्येयम् जातिपरत्वात् विजातीयद्वैतनिषेधपरत्वादित्यर्थः । (इत्यादि)

तात्पर्य—शङ्का, इस प्रकार पुरुष बहुत मानने पर " एक एव हि भू० " इत्यादि श्रुतिस्मृतियें जो आत्मा (पुरुष) के एकत्व का प्रतिपादन करती हैं, न घटेंगी ? इस में उत्तर-(नाऽद्वैत०) आत्मा के एक भाव वाली श्रुतियों का विरोध तो नहीं है क्योंकि वे जातिपरक हैं । समानता, एकरूपता= जाति है, उसी में अद्वैत श्रुतियों का तात्पर्य है, अखण्डत्व में नहीं, क्योंकि अखण्डता के प्रतिपादन का वहां प्रयोजन नहीं । जातिशब्द का एकरूपता अर्थ है, यह अगले सूत्र (विदितबन्ध० १५५) से प्राप्त होता है । इस यथाश्रुत जातिशब्द के आदर में " आत्मा इद० ", " सदेव सौ० ", " एकमेवाद्वि० "

इत्यादि श्रुतियों की उपपत्ति करते हुवे ही सूत्र की व्याख्या करनी युक्त है। जातिपरक होने से अर्थात् विजातीय द्वैत के निषेध मात्र में तात्पर्य होने से।

इत्यादि विज्ञानभिक्षु जी ने बहुत विस्तार से लिखा है जिस में से थोड़ा हमने यहां उद्धृत किया है। यद्यपि विज्ञानभिक्षु की इस अंश में हम सानुभूति वा पुष्टि नहीं करते कि जो श्रुतियें उन्हों ने लिखी हैं वे वास्तव में श्रुति ही हैं वा नहीं, अथवा उन में जातिपरक अद्वैत प्रतिपादित ही है वा नहीं। क्योंकि हमारी समझ में तो इन वचनों में परमपुरुष परमात्मा का एकत्व प्रतिपादित है जो कि सजातीय भेद से भी शून्य है। परन्तु हमने इस प्रवचनभाष्य को इस अंश में पोषक देख कर प्रस्तुत किया है कि अद्वैत ब्रह्मवादी नवीन वा आधुनिक वेदान्ती जो सांख्यशास्त्र को नास्तिक कहते और अभिन्ननिमित्तोपादानकारण केवल एक ब्रह्म ही को वस्तु और तदन्य सब जगत् और पुरुषों (जीवात्माओं) को भी मिथ्या कहा करते हैं वे लोग विज्ञानभिक्षु जी से ही शिक्षा लेकर अपना आग्रह वा हठ छोड़ें। हमारे मत में तो—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ यजुः ४०।७॥

इत्यादि श्रुतियों में जो पुरुष का एकत्व कहा है, उस को जातिपरक कहने में सूत्र का तात्पर्य है॥ १५४॥

* विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम्॥ १५५॥ (१५५)

जिस ने बन्ध का कारण (अविवेक) जान लिया उस की दृष्टि में (पुरुषों का) एक रूप है॥

अर्थात् विवेकी पुरुष अन्य सब पुरुषों की चेतनता को एकसी जानता हुआ सब में तद्रूप=एकसापन को जानता है॥ १५५॥

यदि कहो कि तद्रूपता होती तो सब को प्रतीत होती? तो उत्तर—

* नान्धाऽदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः॥ १५६॥ (१५६)

अन्धों को न दीखने से सुजाखों को अनुपलब्धि नहीं होती॥

यदि विवेकचक्षुरहित अविवेकियों को पुरुषों की तद्रूपता नहीं दी

खती तो इस से यह सिद्ध नहीं होता कि विवेक की आंखों वाले समाखों को भी तद्रूपता की उपलब्धि न हो ॥ इस सूत्र का पाठ कई पुस्तकों में नान्धदृष्ट्या और कई में नान्धाऽदृष्ट्या देखा गया, अतः हम ने दूसरे पाठ को ही अच्छा समझ कर आदर दिया है ॥१५६ ॥

* वामदेवादिर्मुक्तोनाऽद्वैतम् ॥ १५७ ॥ (१५७)

वामदेव आदि मुक्त हुवा, इस से अद्वैत नहीं रहा ॥

यदि पुरुष अद्वैत होता=एक ही पुरुष होता तो यह न कहा जाता कि वामदेवादि की मुक्ति हुई । क्योंकि तब तो १ वामदेव की मुक्ति में सब की ही मुक्ति होजाती ॥ १५७ ॥

यदि कहो कि अभी तक वामदेवादि किसी की मुक्ति नहीं हुई, ऐसा मानने में क्या हानि है ? तो उत्तर—

* अनादावद्ययावदऽभावाद्भविष्यदप्येवम् ॥१५८॥ (१५८)

अनादि (काल) में अब तक (किसी की मुक्ति) न होने से भविष्यत् (काल) भी ऐसा ही होगा ॥

जब कि अनादि काल से अनेक सृष्टि और प्रलयों में आज तक किसी वामदेवादि की मुक्ति न हुई माने तो भविष्यत् में भी क्या होना है, इस से तो मुक्ति का सदा अभाव आवेगा ? अतः यह ठीक नहीं कि वामदेवादि किसी की मुक्ति अब तक नहीं हुई । और इस लिये यह भी ठीक नहीं कि पुरुष एक ही है किन्तु यही ठीक है कि पुरुष अनेक हैं और उन में से वामदेवादि कई मुक्त होगये, शेष बन्ध में हैं ॥ १५८ ॥

यदि कहो कि अनेक पुरुष मानने में भी यही दोष आवेगा कि अनादि काल से अनन्तकाल तक मुक्ति होते हुवे समय आवेगा कि संसार का सर्वथा उच्छेद होजाय, सब के मुक्त होने पर संसार कैसे रहेगा ? तो उत्तर—

* इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥१५९॥ (१५९)

जैसे अब तक (संसार का) अत्यन्तोच्छेद न हुवा वैसे सब कालों में न होगा ॥

यदि मुक्त पुरुषों की पुनरावृत्ति न होती तो आगे भविष्यत् में ही क्यों,

कभी संसार का उच्छेद होजाता, क्योंकि अनादिकालप्रवाह में सब मुक्त होजाते। परन्तु अब तक उच्छेद नहीं हुआ, इस से अनुमान होता है कि सब कालों में अत्यन्तोच्छेद कभी नहीं हुआ, न है, न होगा॥ पाठक यह देखकर अत्यन्त चकित होंगे कि विज्ञानभिक्षु जी कैसा स्पष्ट कहते हैं कि-

"सर्वत्र काले बन्धस्यात्यन्तोच्छेदः कस्यापि पुंसोनास्ति।

सब काल में बन्ध को अत्यन्तोच्छेद किसी भी पुरुष का नहीं होता"॥ १५९॥

यदि कहो कि पुरुषों की मुक्ति की व्यवस्था करने वाला कौन है जिसने संसारचक्र चलाया है, जिस का उच्छेद कभी नहीं होता? तो उत्तर-

* व्यावृत्तोभयरूपः॥ १६०॥ (१६०)

उभय (दोनों=बद्ध मुक्त) रूपों से विलक्षण भिन्नस्वरूप (ईश्वर) है॥

* साक्षात्संबन्धात्साक्षित्वम्॥ १६१॥ (१६१)

साक्षात् संबन्ध से साक्षित्व है॥

वह बद्धपुरुषों और मुक्तपुरुषों दोनों से साक्षात् व्याप्य व्यापक संबन्ध से केवल साक्षी है, जैसा कि ऋग्वेद १।१६४।२० में कहा है कि-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यऽनश्नन्नऽन्यो अभिचाकशीति॥

दो सुन्दर शुद्ध चेतनस्वरूप, साथी व्याप्य व्यापक संबन्धयुक्त, परस्पर मित्र अनादित्व में समान वृक्ष=छेद्य भेद्य परिणामी अव्यक्त प्रकृति के साथ लिपटे रहने वाले जीव ईश्वर हैं, उन दोनों में से १ जीवात्मा प्रकृति=वृक्ष के स्वादु फल भोगता है और दूसरा ईश्वर अभोक्ता केवल साक्षिमात्र है॥ १६१॥ और-

* नित्यमुक्तत्वम्॥ १६२॥ (१६२)

नित्यमुक्तत्व है॥

परमेश्वर को नित्य मुक्ति है, अन्य पुरुषों की मुक्ति तो समय विशेष

होती है, मुक्ति की प्राप्ति से पूर्व बन्धकोटि में हैं, परन्तु ईश्वर नित्यमुक्त है, वह बद्ध से मुक्त नहीं हुवा है ॥ १६२ ॥

* औदासीन्यं चेति ॥ १६३ ॥ (१६३)

और उदासीनता है ॥

उस की उदासीनता ही नित्यमुक्तता का हेतु है। यदि वह जगत् के फलभोगों में सक्त होता तो नित्यमुक्त न रह सकता, परन्तु उदासीन होने से न उस को राग है, न द्वेष है ॥ १६३ ॥

यदि कहो कि राग के बिना परमेश्वर जगत् का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? तो उत्तर–

* उपरागात्कर्तृत्वं चित्सांनिध्यात्
चित्सान्निध्यात् ॥ १६४ ॥ (१६४)

उपराग से कर्त्तापन है, चित्सांनिध्य से ॥

जीवात्मा पुरुषों और प्रकृति में व्यापक होने से परमेश्वर का उपराग इन में है, बस उपरागमात्र से उसे कर्त्तापन है। यदि कहो कि उपराग तो साकार पदार्थों में प्रायः देखा जाता है, परमेश्वर तो निराकार है, उस का उपराग कैसे हुवा ? तो उत्तर यह है कि ईश्वर की चेतनता की व्यापकत्व से समीपता होना ही उपराग जानिये। जैसे सूर्य की धूप के सांनिध्यमात्र से कोई वृक्ष वनस्पति ओषधि उगते, कोई सूखते, कोई फलते, कोई फूलते हैं, परन्तु सूर्य को किसी से राग द्वेष नहीं है, न सूर्य किसी को द्वेष से सुखाता, न किसी को राग से उगाता फुलाता फलाता है, सब अपने २ स्वगतभेदभिन्न परिणामों के अनुसार आगे आगे परिणत होते जाते हैं, वैसे ही पुरुष भी अपने २ कर्मानुरूप फल भोगार्थ तैयार हुवे हुवे अपने कर्मों से प्रेरित हुवे ईश्वर के व्यापकत्वरूप सांनिध्यमात्र से भिन्न २ विलक्षण फल भोगने को जगत् में नाना नाम रूपों को धारण करते हुवे घूमते हैं। इस में ईश्वर को कर्तृत्व मानते हुवे भी उदासीनता से रागद्वेषादि दोष नहीं लगते ॥

सूत्र १६० से १६४ तक अन्तिम ५ सूत्रों को अन्य टीकाकारों ने पुरुषों

(जीवात्माओं) पर लगाया है परन्तु सूत्रों में आये हुवे नित्यमुक्तादि विशेषणों से बहुत स्पष्ट है कि ये सूत्र ईश्वर का ही वर्णन करते हैं ॥

अध्यायसमाप्तिसूचनार्थ " चित्सांनिध्यात् " पद दो बार रक्खा गया है

हेयहाने तयोर्हेतू इति व्यूह्य यथाक्रमम् ।
चत्वारः शास्त्रमुख्यार्था अध्यायेस्मिन्प्रपञ्चिताः ॥ १ ॥

१ हेय, २ हान, हेयहेतु, हानहेतु इस व्यूह से क्रमपूर्वक इस अध्याय में शास्त्र के चार ४ मुख्यार्थ कहे गये ॥ १६४ ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिकृते सांख्यदर्शन भाषानुवादे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

—:०*०:—

ओ३म्

अथ द्वितीयोऽध्यायः

—:o*o:—

प्रथमाऽध्याय में प्रकृति, उस के कार्य महत्तत्वादि, पुरुष=जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन करके, द्वितीय अध्याय में प्रकृति का परमेश्वराधीनत्व, जीवात्माओं के भोग मोक्षार्थ होना और अन्य तत्वों का कुछ विस्तार से वर्णन आरम्भ करते हैं। वक्ष्यमाण प्रथम सूत्र में प्रथमाध्याय के अन्तिम सूत्र से कर्तृत्वम् पद की अनुवृत्ति है-

* विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य ॥ १ ॥ (१६५)

प्रकृति का (कर्तृत्व), पुरुष की मुक्ति के लिये है वा अपने लिये ?

प्रथमाध्याय के अन्त में जो कहा था कि चित्सांनिध्य से प्रकृति में कर्तृत्व है, उस पर पूछते हैं कि प्रयोजन क्या है, जगत् क्यों रचा जाता है ? जीवों की मुक्ति के लिये वा प्रकृति के अपने लिये ? उत्तर-

* विरक्तस्य तत्सिद्धेः ॥ २ ॥ (१६६)

विरक्त को उस (मोक्ष) के सिद्ध होने से ॥

रागरहित पुरुष को ही मोक्ष संभव है अतः पुरुष की मुक्ति के लिये प्रकृति से जगत् रचा जाता है। लोग पूछेंगे कि जगत् के जन्म मरणों से छूटने का नाम तो मुक्ति है, फिर जगत् की उत्पत्ति को जीवों के मोक्ष के लिये बताना तो उलटी बात हुई ? उत्तर—नहीं, जीव अपने कर्मों को भोगकर ही मोक्ष पासक्ते और कर्मों का भोग अर्थात् कर्मफलों का भुगतान सृष्टि के उत्पन्न होने से ही हो सक्ता है, अतः सृष्टि की उत्पत्ति वास्तव में भोग और मोक्ष दोनों का साधन है, यदि पुरुष सृष्टि में आकर पूर्व कर्मों का फल भोग कर मुक्ति पाने का यत्न करें तो ॥ ऐसा ही योगदर्शन २। १८ में (प्रकाशक्रि०—भोगापवर्गार्थं दृश्यम्) कहा है ॥ २ ॥

यदि कहो कि सृष्टि की उत्पत्ति यदि मोक्ष के लिये होने से मुक्ति का कारण है तो एक बार की ही सृष्टि से सब जीवों के भोग मोक्ष सिद्ध होजाते, पुनः पुनः सृष्टि क्यों होती है ? तो उत्तर-

* न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात् ॥ ३ ॥ (१६७)

अनादि वासना के बलवती होने से केवल श्रवण से उस (मोक्ष) की सिद्धि नहीं होसक्ती ॥

अनादि वासना जो वैराग्य की रोकने वाली है, वह बलवती है, इस लिये केवल श्रवणमात्र से एक वार में सब को पर वैराग्य उत्पन्न नहीं होता कि हम केवल पूर्वकृत कर्मों का फल भोगकर निमट जावें और सब के सब एक साथ एक ही सृष्टि में मुक्ति संपादन करलें किन्तु अनेक जन्मों प्रत्युत अनेक सृष्टियों में किये पुण्यों के संचय से कभी कठिन से किसी एक पुरुष को मुक्ति प्राप्त होती है, अतः केवल एक वार की सृष्टि से निबटारा वा छुटकारा नहीं मिलसकता ॥ ३ ॥ अथवा-

* बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ॥ ४ ॥ (१६८)

बहुत भृत्य वाले के समान प्रत्येक (जानो) ॥

जैसे एक गृहस्थ के स्त्री पुत्रादि भरण पोषण योग्य बहुत भृत्य हों तो वह एक एक का भरण पोषण करे तब भी बहुत सा भोजन वस्त्रादि चाहिये इसी प्रकार जीवात्मा बहुत हैं और एक प्रकृति से सृष्टि रचकर उन जीवात्माओं में से प्रत्येक को भोग मोक्ष का अवसर देना है इस लिये एक वार की सृष्टि सब जीवात्माओं के भोग मोक्ष को पर्याप्त नहीं होसकती, अतः वारंवार सृष्टि और प्रलय किये जाते हैं ॥ ४ ॥

यदि कहो कि " तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः " तै० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० १ ॥ इत्यादि वाक्यों से तो परमेश्वर का जगत्स्रष्टा होना पाया जाता है तब प्रकृति से जगद्रचना मानना कैसे ठीक माना जावे ? उत्तर-

* प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ॥५॥ (१६९)

प्रकृति के वास्तविक (उपादान) मानने पर पुरुष (परमेश्वर) को भी अध्यास (प्रकृति के उपादानत्व में उस के सामीप्य से निमित्तत्व) की सिद्धि है॥

वास्तव में तो प्रकृति ही जगत् की स्रष्ट्री (उपादान कारण) है परन्तु अध्यास अर्थात् प्रकृति पर अधिष्ठाता होकर रहनामात्र पुरुष को जगत् का कर्तृत्व सिद्ध करके निमित्त कारणत्व जतलाता है ॥ ५ ॥

यदि कहो कि इतनी कल्पना क्यों बढ़ाई जावे, सीधा पुरुष को ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण क्यों न मानलें ? तो उत्तर-

* कार्यतस्तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥ (१७०)

कार्य से उस (प्रकृति के उपादानत्व) की सिद्धि से ॥

कार्य जगत् के देखने से गुणत्रयात्मकता पाई जाती है, इस से सत्वरजस्तमोमयी प्रकृति ही उपादान सिद्ध होती है, जैसा कि दूसरे दर्शनकार वैशेषिक में कहते हैं कि " कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणोदृष्टः " कारण के गुणानुसार कार्य के गुण देखे जाते हैं ॥ ६ ॥

यदि कहो कि प्रकृति जड़ ही जगत् का कारण होता तो सृष्टि में कोई नियम न होते, अन्धाधुन्ध कुच्छों होजाया करता ? तो उत्तर-

* चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् ॥७॥ (१७१)

चेतन (परमेश्वर) के अभिलाष से नियम है, सूली और छोड़ने के समान॥

जैसे दण्ड देने को कण्टक (सूली वा फ़ांसी) बनाई जाती है। उस का अधिष्ठाता राजा होता है, वह नियमानुसार दण्डयों को शूली पर लटकाता और अदण्डयों को छोड़ देता है, इसी प्रकार प्राकृत भोगों में परमेश्वर नियम रखता है जिस से अनियम अन्धाधुन्ध नहीं होने पाता ॥ ७ ॥

क्यों जी ! जिस परमेश्वर के अभिलाषमात्र से प्रकृति और उस के सब कार्य नियम में बद्ध रहते हैं उस पुरुष को साक्षात् ही उपादान कारण क्यों न मानलें, अन्य प्रकृति आदि का योग क्यों कल्पित करें ? उत्तर-

* अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् ॥ ८ ॥ (१७२)

अन्य (प्रकृति) के योग में भी उस (ईश्वर) के (कर्तृत्व की) सिद्धि साक्षात् भाव से नहीं, किन्तु लोहे में दाह के समान (परंपरा से ही होगी) ॥

जैसे लोहा स्वयं दाहक नहीं, किन्तु अग्नि के संयोग से दाहक हो जाता है, वैसे ही प्रकृति साक्षात् स्वयं स्वतन्त्र जगत् नहीं बना सकती, पुरुष के संनिधान से बनाती है, तथा पुरुष भी निर्गुण होने से गुणत्रयात्मक जगत् को अपने में से नहीं बना सकता, प्रकृति से ही बनाता है ॥ ८ ॥

सृष्टि किसे कहते हैं ? उत्तर—

* रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥ ९ ॥ (१७३)

राग (प्रकृति) और विराग (पुरुष) के संयोग का नाम सृष्टि है ॥ ९॥

अब सृष्टि का क्रम कहते हैं:-

* महदादिक्रमेण भूतानाम् ॥ १० ॥ (१७४)

महत्तत्त्वादि क्रम से भूतों की (सृष्टि) होती है ॥ १० ॥

* आत्मार्थत्वात्सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ॥ ११ ॥ (१७५)

सृष्टि के पुरुषनिमित्तक होने से इन (महदादि) का आरम्भ निज के लिये नहीं ॥

महत्तत्त्वादि कार्य अपने लिये आरम्भ नहीं करते, किन्तु आत्मा (पुरुष) के लिये करते हैं क्योंकि सृष्टि ही पुरुष के भोग मोक्षार्थ होती है ॥ ११ ॥

यदि कहो कि प्रकृति से पुरुषपर्यन्त २५ पदार्थों के साथ दिशा और काल भी सांख्याचार्य ने क्यों नहीं गिनाये, उन के विना तो सृष्टि का कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता ? तो उत्तर-

* दिक्कालावाकाशादिभ्यः ॥ १२ ॥ (१७६)

दिशा और काल, आकाशादिकों से (संगृहीत समझो) ॥

आदि शब्द से आकाश की उपाधियों का ग्रहण है । पूर्व पश्चिमादि दिशा और निमेष घटी दिन मासादि काल; ये दोनों आकाश और आकाश की उपाधियों के अन्तर्गत समझने चाहियें ॥

जो नित्य दिशा और काल हैं वे तो आकाश की भी प्रकृति हैं और प्रधान प्रकृति के गुणविशेष ही समझने चाहियें, उन का यहां वर्णन नहीं, किन्तु खण्ड दिशा पूर्वादि और खण्ड काल निमेषादि को यहां आकाश के अन्तर्गत माना है । आकाश जगह अवकाश वा स्थान का नाम है, बस पूर्व पश्चिम आदि शब्दों से भी देशविशेषों का ही ग्रहण होता है अतः वे देश जगह वा अवकाश वा स्थान ही हुवे तब उन को आकाश में अन्तर्गत कहना ही चाहिये। इसी प्रकार निमेष दिन मास आदि भी सूर्य चन्द्रादि के उदयादि से नापे जाते हैं और सूर्य चन्द्रादि पृथिव्यादि के कार्य हैं और वे ही आकाश की उपाधि हैं अतः आकाश और उपाधि पृथिव्यादि में काल का अन्तर्गत मानना ठीक है । जैसा कि वैशेषिक के मत में आकाश से श्रोत्र की उत्पत्ति मानी गई है ॥ यह सब विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यप्रवचन भाष्य का आशय हमने अपने शब्दों में लिखा है, अनुवाद रूप से नहीं ॥ १२ ॥

अब महत्तत्वादि को कार्यतः और लक्षणतः वर्णन करना आरम्भ करते हैं:-

*** अध्यवसायो बुद्धिः ॥ १३ ॥ (१७७)**

निश्चयात्मक व्यापार करना बुद्धि का लक्षण है ॥ १३ ॥

*** तत्कार्यंधर्मादि ॥ १४ ॥ (१७८)**

उस (बुद्धि) का काम धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य इत्यादि है ॥ १४ ॥

*** महदुपरागाद्विपरीतम् ॥ १५ ॥ (१७९)**

महत्तत्व (बुद्धि) ही उपराग से उलटी हो जाती है ॥

जब बुद्धि पर रजस् तमस् की छाया पड़ती है तब विपरीत काम अधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य इत्यादि होने लगते हैं ॥ १५ ॥

*** अभिमानोऽहंकारः ॥ १६ ॥ (१८०)**

अभिमान करना अहंकार का लक्षण है ॥ १६ ॥

*** एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ॥ १७ ॥ (१८१)**

११ इन्द्रियें और ५ तन्मात्रा उस (अहंकार) का कार्य हैं ॥

अन्तःकरणचतुष्टय में मन बुद्धि चित्त अहंकार ये ४ वस्तु गिनी जाती हैं जिन में से चित्त का वर्णन यहां सांख्याचार्य ने यह समझकर छोड़ दिया है कि चित्त शब्द जो योगदर्शन में आया है वह अन्तःकरणमात्र के अर्थ में आया है तदनुसार समान तन्त्र सांख्य के प्रणेता कपिल मुनि उस को बुद्धि अहंकार और मन इन तीनों का सामान्य नाम समझते जान पड़ते हैं ॥१७॥

*** सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात् ॥१८॥ (१८२)**

विकार को प्राप्त (सात्विक) अहंकार से सत्वगुणी ११ इन्द्रियें (मन को मिला कर) प्रवृत्त होती हैं ॥

पूर्व सूत्र में कहा था कि ११ इन्द्रियें और ५ तन्मात्रा ये १६ पदार्थ अहंकार के कार्य हैं, उस का विवरण इस सूत्र में यह है कि सत्वगुणी अहंकार से सत्वगुणी एकादशेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं, परिशेष से यह भी जान लेना चाहिये कि राजस तामस अहंकारों से विकृत होकर राजस तामस ११ इन्द्रिय प्रवृत्त होते हैं । इन दोनों सूत्रों में एकादश शब्द आने से कपिल मुनि को ६१ वें सूत्र में " उभयमिन्द्रियम् " पदों से मन सहित ११ इन्द्रियें गिन कर २५ गण

की संख्यापूर्त्ति स्पष्ट हुई ज्ञात होती है ॥ १८ ॥ अगले सूत्र में " एकाद[श]
का अभिप्राय भी आचार्य स्वयं बताते हैं:-

* कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ॥१९॥ (१८३)

(५) कर्मेन्द्रियों, (५) ज्ञानेन्द्रियों सहित ११ वां आन्तरिक (मन)

१-वाणी, २-हाथ, ३-पांव, ४-गुदा, ५-शिश्न वा उपस्थ; ये ५ कर्मे[न्द्रिय]
हैं और १-आंख, २-कान, ३-त्वचा, ४-रसना, और ५-नासिका; ये ५ ज्ञा[ने]
न्द्रिय हैं, इन १० के साथ ११ वां भीतरी इन्द्रिय जो इन बाहरी १० इन्द्रि[यों]
का प्रवर्त्तक है, वह मन है। इस प्रकार ११ इन्द्रिय बाह्याऽऽभ्यन्तर भेद से
इन्द्रिय नाम इस लिये है कि इन्द्र=अधिकारी पुरुष की इच्छानुसार च[लने]
वाले हैं ॥ १९ ॥

क्योंकि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय एक एक स्थूलभूत का ग्रहण करता है तब
उस इन्द्रिय को उस २ स्थूलभूत वा महाभूत का ही कार्य क्यों माना गा[या]
अहंकार का क्यों ? उत्तर-

* आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ॥ २० ॥ (१८४)

अहंकार का कार्य होना श्रुति में पाये जाने से भौतिक नहीं ॥

इन्द्रियें भौतिक नहीं अर्थात् स्थूलभूतों (६१ सूत्रोक्तों) का कार्य नहीं, क्यों[कि]
एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च मुण्डकोपनिषद् २।१।३
श्रुति से पाया जाता है कि अहंकार से प्राण और मन आदि ११ इन्द्रियें उत्पन्न [हुई]
हैं॥ न्यायदर्शन में जो भूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति लिखी है वह स्थूलभूतों
नहीं किन्तु जिस आदि कारण को यहां सांख्य में प्रकृति कहा है उसी आ[दि]
कारण को वहां कारणभूतपञ्चक मान कर उस से इन्द्रियों की उत्पत्ति म[ानी]
है। इस का विशेष वर्णन (६१) सूत्र पर हम यहां भी कर आये हैं ॥

यदि कहो कि अग्निं वागप्येति । वातं प्राणश्चक्षुरादित्यम् बृ[हदा]
रण्यकोपनिषद् ५।२।४ के अनुसार अपने २ कारण देवता में उस २ इन्द्रि[य]
का लय होना पाया जाता है, इस से तो यही सिद्ध होता है कि वा[क्]
इन्द्रिय, अग्नि देवता (महाभूत) का कार्य है, तभी तो अपने कारण अग्नि[में]
लय को प्राप्त होता है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियें भी ? इस का उत्तर-

* देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य ॥ २१ ॥ (१८५)

अधिष्ठातृ देवों में लय बताने वाली श्रुति आरम्भक (कारण) की नहीं है॥

जैसे जल की बूंद पृथिवी में लीन हो जाती है, ऐसे ही (वागादि) इन्द्रियें भी अग्न्यादि में लीन हो जावें, इतने से यह सिद्ध नहीं होता कि अग्न्यादि का कार्य वागादि हैं। जल भी तो पृथिवी का कार्य नहीं परन्तु पृथिवी में लीन हो जाता है ॥ २१ ॥

तो फिर इन्द्रियों को नित्य ही क्यों न मान लें ? उत्तर—

* तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥ २२ ॥ (१८६)

उन (इन्द्रियों) की उत्पत्ति श्रुति से और नाश प्रत्यक्ष देखने से (नित्य) नहीं॥

एतस्माज्जायते प्राण इत्यादि श्रुति में इन्द्रियों की उत्पत्ति वर्णित है और वृद्धावस्था आदि में चक्षुरादि इन्द्रियों का नष्ट होना प्रत्यक्ष देखा जाता है। इन दोनों हेतुओं से इन्द्रियों को नित्य नहीं कह सकते ॥ २२ ॥

* अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठानम् ॥ (१८७)

इन्द्रियां अतीन्द्रिय हैं, गोलकों को (इन्द्रिय) मानना भ्रान्तों का मत है॥

वास्तविक तो चक्षुरादि इन्द्रिय सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, परन्तु भ्रम में पड़े लोग अधिष्ठान (गोलक) ही इन्द्रिय हैं, ऐसा मानते हैं ॥ २३ ॥

यदि गोलक इन्द्रिय नहीं हैं किन्तु सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थ कोई अन्य हैं, जो वास्तविक इन्द्रिय हैं तो फिर इन्द्रियें ५ क्यों मानी जावें, एक ही ५ गोलक में काम देने वाला क्यों न माना जावे ? उत्तर—

* शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम् ॥ २४ ॥ (१८८)

शक्तिभेद मानने में भी भेद सिद्ध रहने पर एकत्व नहीं हो सक्ता ॥

यदि केवल एक इन्द्रिय में ही भिन्न २ पांच शक्तियां मान कर एक एक गोलक द्वारा ५ काम घ्राण रसन दर्शन स्पर्शन श्रवण भेद से माने जावें, तब भी तो भेद सिद्ध रहा, भेद सिद्ध रहने पर एक मानना नहीं बना क्योंकि शक्ति ५ हुईं तो शक्तिमान् भी ५ ही कल्पना किये जावेंगे ॥ २४ ॥

यदि कहो कि एक अहङ्कार से अनेक इन्द्रियों की उत्पत्ति की कल्पना बाधित है, तो उत्तर—

* न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ॥ २५ ॥ (१८९)

प्रमाणसिद्ध (वस्तु) का कल्पनाविरोध नहीं होता ॥

५ इन्द्रियें प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्ध हैं उन में कल्पनाविरोध नहीं सकता॥ २५॥

* उभयात्मकं मनः ॥ २६ ॥ (१९०)

मन दोनों (ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियों) का अधिष्ठाता है ॥ २६ ॥

एक अहंकार से ५ भूत, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ ज्ञानेन्द्रिय इत्यादि अनेक क कैसे उत्पन्न होगये ? उत्तर–

* गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् ॥२७॥ (१९

गुणों के परिणाम भिन्न २ होने से अनेक (कार्य) होगये, जैसे अवस्था जैसे एक ही देवदत्त देह के परिणाम (क्रमशः बदलते रहने) से अ अवस्था बाल्य यौवन वृद्धतादि को प्राप्त होता है, ऐसे ही एक अहंकार स रजस् तमस् की मात्राओं के तारतम्य (कमोबेश होने) से और परिण (अवस्थान्तरप्राप्ति) से अनेक कार्यों (भूतेन्द्रियादिकों) का कारण मा में कोई बाधा नहीं ॥ २७ ॥

अब ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियों के कामों का भेद बतलाते हैं:–

* रूपादि-रसमलान्त उभयोः ॥ २८ ॥ (१९२)

दोनों (इन्द्रियों) के रूपादि और रसमलान्त (काम हैं) ॥

ज्ञानेन्द्रियों का काम रूपादि=रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द का ज्ञान कर है और कर्मेन्द्रियों का काम बोलना, चलना, देना लेना, भोग करना अन्नरस के मल को त्यागना, यहां तक है ॥ २८ ॥

क्यों जी ! इन्द्रियों को ही द्रष्टा क्यों न मानलें, उनके अतिरिक्त पुरुष आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है ? उत्तर–

* द्रष्टृत्वादिरात्मनः, करणत्वमिन्द्रियाणाम् ॥ २९ ॥ (१९

द्रष्टा श्रोता स्प्रष्टा घ्राता और रसयिता होना आत्मा का काम है, करण=साधन होना इन्द्रियों का काम है ॥ २९ ॥

* त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ॥ ३० ॥ (१९०)

तीनों का अपना २ लक्षण है ॥

मन बुद्धि अहङ्कार का लक्षण अपना २ भिन्न है, संकल्प करना मन

निश्चय करना बुद्धि का और अभिमान करना अहङ्कार का लक्षण है। यहां सांख्याचार्य ने स्पष्ट त्रयाणाम् पद से अन्तःकरणत्रितय कहा है तब सांख्य में चित्त शब्द को ढूंढने का श्रम करना सार्थक नहीं होगा। सांख्याचार्य ने तीनों में ही चौथे चित्त को अन्तर्भूत किया जान पड़ता है ॥ ३० ॥

तीन अन्तःकरणों का पृथक् २ लक्षण बता चुके, अब तीनों की सामान्य वृत्ति बताते हैं:–

*** सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥३१॥ (१९५)**

प्राणादि ५ पांचों वायु अन्तःकरण की सामान्य वृत्ति हैं ॥

प्राणादि ५ (प्राण अपान उदान समान और व्यान) प्राण के ही भेद हैं, वायु के समान चलने वाला होने से उन को वायु कहा है, इतने से यह न समझ लेना चाहिये कि वे पञ्च स्थूलभूतान्तर्गत वायु का भेद हैं, वह वायु तो पञ्चतन्मात्रों का कार्य है। करण शब्द से कोई तो बुद्धि मन अहंकार इन ३ अन्तःकरणों का ग्रहण करते हैं और कोई टीकाकार यहां करण शब्द का अर्थ बहिःकरण १० इन्द्रियें लेते हैं, कोई ३ अन्तःकरण और १० बहिःकरण सब १३ का ग्रहण करते हैं, परन्तु ठीक यही ज्ञात होता है कि अन्तःकरणों का ही ग्रहण किया जावे, क्योंकि १० इन्द्रियों में तो हाथ पांव भी हैं, भला फिर कोई मान सकता है कि हाथ की वृत्ति प्राणादि हैं, वा पांव की वृत्ति प्राणादि हैं वा श्रोत्र की वृत्ति प्राणादि हैं? कभी नहीं। प्रत्युत इन्द्रिय व्यापार जब निद्रा में नहीं रहता तब भी प्राणादि पांचों वृत्तियें अपना २ काम करती हुई जीवन को स्थिर रखती हैं। श्वास प्रश्वास रक्तसंचार सब होता रहता है। सांख्यप्रवचनभाष्य और महादेव वेदान्तिकृत वृत्ति में भी यही माना है। सांख्यकारिका में भी यही माना है। यथा–

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥

इसी कारिका को सांख्यप्रवचन में भी उद्धृत किया गया है। कोई लोग यहां वायु शब्द से प्राणादि को वायु का भेद मानते हैं परन्तु सांख्यप्रवचन में विज्ञानभिक्षु जी इस का खण्डन करते हुवे वेदान्त का सूत्र प्रमाण देते हैं कि–

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ शारीरक २। ४। १०

इस सूत्र में प्राण के वायुत्व वा वायुपरिणामत्व का स्पष्ट निषेध है इस लिये यहां वायवः पद से वायुतुल्य चलने वाले अर्थ लेना ठीक है जिस से एक दर्शन का दूसरे दर्शन से विरोध भी न आवेगा। मन का धर्म काम भी है, काम को मनसिज कहते हैं, काम के आवेश से प्राण को क्षोभ होता भी देखा जाता है इस से भी अन्तःकरण की ही वृत्तियों को यहां प्राणादि मानने की पुष्टि होती है। प्राण और वायु के पृथक्त्व में प्रमाण (मुण्डकोपनिषद् २।१।३)

एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥

इस में प्राण से पृथक् वायु को गिनाया है। इसी कारण लिङ्ग शरीर में प्राण की गणना न करने पर भी न्यूनता नहीं रहती क्योंकि बुद्धि की ही क्रियाशक्ति सूत्रात्मा प्राण कहाती है, वह बुद्धि जब लिङ्ग शरीर में गिना दी गई तो प्राण भी बुद्धिवृत्ति रूप से गिना गया समझना चाहिये। प्राण को अन्तःकरण की वृत्ति मानने में भी उस को वायु कहने का तात्पर्य इतना ही है कि प्राणादि पांचों वायुतुल्य संचारी हैं और वायु देव से अधिष्ठित हैं। इस कारण उन को वायु नाम दिया गया है, न कि पञ्चस्थूलभूतान्तर्गत होने से ॥

यदि कहाजावे कि योगदर्शन तृतीय विभूतिपाद के ३९ वें सूत्र (उदानजयाज्जल०) के व्यासभाष्य में तो-

समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनम्०

इत्यादि द्वारा प्राणादि पाञ्चों को समस्त इन्द्रियों की वृत्ति कहा है, तदनुसार यहां भी सामान्यकरणवृत्ति शब्द से समस्त इन्द्रियों की ही वृत्ति क्यों न ली जावें ? अन्तःकरणमात्र की वृत्ति क्यों लीजावें ? तो उत्तर यह है कि व्यासभाष्य के देखने से ज्ञात होता है कि इस से पूर्व ३८ वें सूत्र के भाष्य में व्यासदेव कह चुके हैं कि-

इन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्ते

इसी आशय को लेकर व्यास जी अगले सूत्र के भाष्य में समस्तेन्द्रिय शब्द से चित्तप्रविष्ट सब इन्द्रियों को मानकर उस चित्त (अन्तः करण) की वृत्ति प्राणादि को मानते होंगे, तभी निर्दोष संगति लगेगी ॥

तैत्तिरीय आरण्यक का भाष्य करते हुवे सायणाचार्य जी ने पृष्ठ ५९६ पर इस सूत्र का खण्डन किया है, वह इस प्रकार है कि–

"तथा च सांख्यैरुक्तम्–'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' इति। तस्मात् तत्त्वान्तरं प्राण इति प्राप्ते ब्रूमः–

'प्राणएव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स वायुना ज्योतिषा भाति' इति श्रुत्यन्तरे चतुष्पाद् ब्रह्मोपासनप्रसंगेनाध्यात्मिकप्राणस्याऽधिदैविकवायोश्चानुग्राह्यानुग्राहकरूपेण विभेदः स्पष्टमेव निर्दिष्टः। अतोयः प्राणः स वायुरित्येकत्वश्रुतिः कार्यकारणयोरभेददृष्ट्या नेतव्या। यत्तु सांख्यैरुक्तं तदसत्। इन्द्रियाणां सामान्यवृत्त्यसंभवात्। पक्षिणां तु सामान्यचलनान्येक विधानि पञ्जरचलनस्यानुकूलानि। न तु तथेन्द्रियाणां दर्शनश्रवणमननादि व्यापारा एकविधाः। नापि देहचलनानुकूलाः। तस्मात्तत्त्वान्तरं प्राण इति परिशिष्यते॥"

इस में दो हेतु दिये हैं, १–" प्राणएव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति " श्रुति=प्राण ही ब्रह्म का चतुर्थ पाद है, वह वायु ज्योति से प्रकाशता है। २–इन्द्रियों की सामान्यवृत्ति संभव नहीं॥ सो ये दोनों ही हेतु पर्याप्त नहीं, क्योंकि इस सांख्यसूत्र के अनुसार अन्तःकरण की सामान्य वृत्ति का नाम प्राण मानते हुवे भी प्राण के चतुर्थपादत्व में क्या हानि है? जब हानि नहीं तब इस सूत्र का खण्डन व्यर्थ है। दूसरा हेतु इस लिये पर्याप्त नहीं कि सूत्रकार ने करण शब्द पढ़ा है, इन्द्रिय शब्द नहीं, करण का अर्थ अन्तःकरण लेने में [जैसा कि हम ने ऊपर भाष्य में दिखलाया है] सायणाचार्य जी का हेतु उड़जाता है। इसलिये सायणाचार्यकृत सूत्रखण्डन ठीक नहीं॥ ३१॥

* क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः॥ ३२॥ (१९६)

इन्द्रियवृत्ति क्रम से और युगपत् भी होती है॥

इन्द्रियां मन के अधीन हैं, मन युगपत् अनेक विषयज्ञान में प्रवृत्त नहीं होता अतः इन्द्रियें क्रम से (पारी पारी से) प्रवृत्त होती हैं। इस में तो विवाद नहीं, यही न्याय वैशेषिकादि अन्य दर्शनों का मत है, परन्तु इस सूत्र में तद्विरुद्ध अक्रमशः (एक वारगी=एक साथ=युगपत्) भी इन्द्रियवृत्ति होना

कहा है, यह विचारणीय है। इस का एक समाधान तो यह है कि साधारण-तया देखा जाता है कि मनुष्य पावों से चलता जाता है, साथ ही हाथों से कुछ पकड़े जाता है, आंखों से देखता और कानों से सुनता तथा नाक से मार्ग के सुगन्ध दुर्गन्ध को सूंघता भी जाता है, मुख में पान है उस को चखता भी जाता है, वायु के शीतोष्णादि स्पर्शों को भी लेता जाता है, इस प्रत्यक्ष सिद्ध बात को कथन करते हुवे सूत्रकार ने युगपत् इन्द्रियवृत्ति मानी हो और अन्य दर्शनकारों ने चलना पकड़ना देखना सुनना सूंघना चखना छूना आदि अनेक कामों में मन के अतिचपल और शीघ्रवृत्ति होने से शीघ्र २ सब वृत्तियों को पारी पारी से ही अवकाश देने वाला मानकर क्रमवृत्ति ही माना हो। जैसे नीचे ऊपर सात पान रख कर कोई एक साथ सब को एक सुई से बींध देवे तो दोनों बात कही जायंगी। एक यह कि सब पान एक साथ (युगपत्) बिंध गये, इस लिये कि देखने वालों को एक काल में ऊपर का पान बिंधा और नीचे का न बिंधा, यह दीखता नहीं, इस लिये सामान्य विचार से युगपत् बिंधा कहना ठीक है। दूसरे विचार से समझ में आता ही है कि ऊपर के पान को पार करने पश्चात् ही सुई की नोक नीचे के पान में घुस सकती है, तदनुसार यह कहना भी ठीक होगा कि सातों पान क्रम से (पहले ऊपर का, फिर दूसरा नीचे का, फिर तीसरा इत्यादि प्रकार से) बिंधे। बस सांख्यकार सामान्य और अन्यदर्शनकार विशेष कथन करते हों तो इन में परस्परविरोध नहीं। दूसरे अन्य दर्शनों के मत को क्रमशः पद से स्वीकार करके उस से अधिक अक्रमशः कहा माने तो भी विरोध नहीं। विरोध तब होता जब अन्य दर्शनों के मत (क्रमशः) को सांख्यकार न मानते॥

तीसरा समाधान विज्ञानभिक्षु के मत से यह है कि विशेष ज्ञान जो इन्द्रियों से होता है वह क्रम से और सामान्य ज्ञान युगपत् भी होता है। इस ज्ञानसामान्य को वे आलोचन कहते हुवे कारिका का प्रमाण देते हैं कि-

शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्॥ १॥

वह पूर्वाचार्यों की एक कारिका और भी उद्धृत करते हैं कि-

अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
परं पुनस्तथा वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिस्तथा॥ १॥

इन्द्रियों से १ सामान्य ज्ञान निर्विकल्प होता है और २ दूसरा फिर वस्तु के धर्मों और जात्यादि भेदों से सविकल्पक ज्ञान होता है। इस से निर्विकल्पक सामान्य ज्ञान युगपत् (एक साथ) भी होता है और दूसरा वस्तुधर्मों और जात्यादिभेदों से भिन्न विशेषज्ञान जो सविकल्पक भी होता है वह क्रम से ही होता है। वे (विज्ञानभिक्षु जी) यह भी कहते हैं कि कोई लोग ऊपर के श्लोक का यह अर्थ लगाते हैं कि इन्द्रियों से निर्विकल्प आलोचन ज्ञान ही होता है और सविकल्प केवल मनोजन्य ज्ञान है, परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि योगभाष्य में व्यासदेव ने विशिष्ट ज्ञान भी इन्द्रियों द्वारा होना ठहराया है और इन्द्रियों से विशेष ज्ञान में कोई बाधक हेतु भी नहीं। वही लोग सूत्रार्थ भी इस प्रकार करते हैं कि बाह्येन्द्रियों से लेकर बुद्धि पर्यन्त की वृत्ति सामान्य से क्रम से हुवा करती है परन्तु कभी २ व्याघ्रादि के देखने से भयविशेष में विजुली सी सारी इन्द्रियों में एकसाथ ही वृत्ति हो जाती है, यह भी ठीक नहीं क्योंकि वहां इन्द्रियों की वृत्तियों का ही क्रमिकत्व और यौगपद्य कहा है, बुद्धि और अहंकार का प्रकरण तक नहीं। इत्यादि॥

परन्तु हमारी समझ में कुछ आश्चर्य नहीं कि सांख्याचार्य इस सूत्र में इन्द्रिय शब्द से बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार के करणों का ग्रहण करते हों वा केवल अन्तःकरणों का ही ग्रहण करते हों, क्योंकि ऊपर के सूत्र ३१ में तो करण शब्द (अन्तःकरणपरक) आया ही है, उस से पहले सूत्र ३० में त्रयाणां पद से बुद्धि अहंकार मन ३ का वर्णन चला ही आता है और अगले सूत्र (३३) में सर्वथा योगदर्शन के प्रथम पादस्थ ५ वें सूत्र का ज्यों का त्यों पाठ है। योगदर्शन के ५ वें सूत्र में चित्त शब्द की ही अनुवृत्ति है, इन्द्रिय शब्द की नहीं। व्यासभाष्य में भी यहां चित्त (अन्तःकरण) का ही ग्रहण है, इन्द्रियों का कथन नहीं। तब सांख्य (समानतन्त्र "सांख्य + योग") में भी वही आशय होना अधिक संभव है॥ ३२॥

* वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥ ३३ ॥ (१९७)

वृत्तियां पांच हैं जो क्लिष्ट अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की हैं॥

आगे जिन पांच वृत्तियों को गिनावेंगे, वे प्रत्येक दो २ प्रकार की हैं। जो कर्माशय के समूह (ढेर) करने का क्षेत्र (खलिहान) हैं, वे क्लिष्ट और

जो केवल आत्मचिन्तन में लगी हुई सत्त्व रज तम तीनों गुणों के अधि[illegible] का विरोध करती हैं वे अक्लिष्ट कहाती हैं, वे क्लेशदायक प्रवाह में पड़ी[illegible] अक्लिष्ट हैं। दुःखद छिद्रों में सुखदा और सुखद छिद्रों (विघ्नों) में दुःख[illegible] हो जाती हैं। इस प्रकार वृत्तियों से सुखदुःखादि के संस्कार और संस्का[illegible] से वृत्तियां चलती हैं तब निरन्तर वृत्ति और संस्कारों का चक्र चलता रह[illegible] है। अन्तःकरण और विषयों के सम्बन्ध होने से अन्तःकरण में जो परिणा[illegible] या विकार उत्पन्न होते हैं उन का नाम वृत्ति है, सो यदि अन्तःकरण आ[illegible] अधिकार में स्थित (वश्य) हो जावे तब तो शान्त होकर आनन्दित[illegible] सकता है और चञ्चलता से असंख्य विषयों में दौड़ता २ मर रहता है॥

अब उक्त ५ वृत्तियों के ५ नाम बताते हैं:-

[१] प्रमाण वृत्ति, २-विपर्यय वृत्ति, ३-विकल्प वृत्ति, ४-निन्द्रा वृत्ति औ[illegible] ५-स्मृति वृत्ति॥ इन (५) में से प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (ये [illegible] प्रमाणवृत्तियां हैं। यथा-

१-इन्द्रियरूप नालियों में से अन्तःकरण के सांसारिक विषय वस्तुओं [illegible] बह कर उन का उस पर रङ्ग चढ़जाने से सामान्य विषयरूप विषय के विशे[illegible] (ख़सूसियत) का निश्चय करना कि यह, यह है, इस वृत्ति को " प्रत्य[illegible] प्रमाण वृत्ति " कहते हैं। जैसे देवदत्त के अन्तःकरण ने आंख इन्द्रियरूप नाल[illegible] में को बह कर एक पुष्प के विशेष (ख़सूसियत) को पहचाना कि यह गुला[illegible] का पुष्प है क्योंकि इस में यद्यपि वे समानता भी हैं जो अन्य पुष्पों में [illegible] रूप आकार की होती हैं परन्तु इतनी पहचान इस में ऐसी है जो अन्य पुष्[illegible] में इस प्रकार की (सामान्य से) नहीं होती, इस लिये यह गुलाब का पुष्प है[illegible] बस यह वृत्ति और गुलाब पुष्पकारक परिणाम १ प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति हुई[illegible]

२-जिस पदार्थ का अनुमान करना हो उस पदार्थ को अनुमेय कहते [illegible] उस अनुमेय के तुल्य प्रकार वाले पदार्थों में घटने वाला और अनुमेय से भि[illegible] प्रकार के पदार्थों में न घटने वाला जो सम्बन्ध हैं, उस विषय की समानत[illegible] का निश्चय करने वाली वृत्ति " अनुमान प्रमाण वृत्ति " नाम की दूसरी वृ[illegible] है। जैसे चन्द्रमा और तारों को एक देश से दूसरे देश में गत देखते हैं, पर[illegible] विन्ध्याचल पर्वत को एक देश से देशान्तर में गत नहीं देखते, इस लि[illegible] चन्द्रमा और तारों के समान विन्ध्याचल पर्वत चल नहीं है, स्थिर है, [illegible]

प्रकार का निश्चय करना रूप चित्तवृत्ति " अनुमान प्रमाण वृत्ति " नाम की दूसरी वृत्ति हुई ॥

३-जब अपने अन्तःकरण की वृत्तियों को इन्द्रियप्रणाली में बहा कर विषय पदार्थ का ग्रहण न किया जाय, और अनुमान प्रमाण वृत्ति से भी काम न लिया जाता हो, किन्तु किसी यथार्थवक्ता आप्त (प्रामाणिक) पुरुष ने प्रत्यक्ष वा अनुमान द्वारा किसी विषय का बोध किया और फिर दूसरों को अपना बोध देकर समझाने को कोई शब्द (वाक्यकलाप) लिखकर वा कह कर उपदेश किया हो, तब जो उस शब्द के सुनने से वा पढ़ने से श्रोता वा पाठक के अन्तःकरण की वृत्ति उस शब्द के अर्थ (विषय पदार्थ) को ग्रहण करती है, उस वृत्ति को " आगम प्रमाण वृत्ति " कहते हैं । इस के उदाहरण वेदों से लेकर आज तक के सब आप्तोपदेश हैं ॥ अब दूसरी विपर्यय नाम की वृत्ति का वर्णन करते हैं कि-

[२] वस्तु के स्वरूप से भिन्न स्वरूप में ठहरने वाला (अन्य में अन्य बुद्धि रूप) मिथ्या ज्ञान ' विपर्यय ' है ॥

विपर्यय नाम उलटा ज्ञान जिस में ज्ञेय के यथार्थस्वरूप से भिन्न कुछ का कुछ ज्ञान हो, यह दूसरी वृत्ति है । इसी को अविद्या कहते हैं, जिस के ५ भेद हैं। १-अविद्या, २-अस्मिता, ३-राग, ४-द्वेष और ५-अभिनिवेश। जिन को ५ क्लेश कहकर योगदर्शन में मलों के वर्णन में कहा है। इन्हीं ५ के दूसरे नाम ये हैं १-तम, २-मोह, ३-महामोह, ४-तामिस्र और ५-अन्धतामिस्र । इस विपर्यय वृत्ति को प्रमाण वृत्ति से पृथक् गिनने का कारण यह है कि उलटा ज्ञान यथार्थ ज्ञान से हट जाता है ॥

[३] शब्दज्ञान (मात्र) पर गिरने वाला (परन्तु) वस्तु से शून्य " विकल्प " कहाता है ॥

विकल्प वह वृत्ति है जिस में ज्ञेय वस्तु (पदार्थ) कुछ न हो, केवल शब्द बोले जावें । जैसे-पुरुष की चेतनता। यहां पुरुष से भिन्न चेतनता कुछ वस्तु नहीं है, तथापि शब्द मात्र ऐसा बोलने का व्यवहार है । किन्तु जैसे- " देवदत्त की गौ " इस वचन में देवदत्त और गौ दो भिन्न २ वस्तु हैं, वैसे-"पुरुष की चेतनता" इस वचन में पुरुष से भिन्न चेतनता वस्तु नहीं है, क्योंकि चेतनता ही तो पुरुष है, पर तो भी ऐसा बोलने का व्यवहार (रिवाज)

है, बस इस व्यवहार की साधनरूप वृत्ति को विकल्प वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति न तो प्रमाण में आसकती थी, न विपर्यय में, इस लिये तीसरी है।

[४] अभाव की प्रतीति का सहारा लेने वाली वृत्ति " निद्रा " है॥

यद्यपि निद्रा में कोई प्रतीति नहीं होती, प्रतीति का अभाव हो जाता है, तो भी निद्रा से जाग कर मनुष्य विचारता है कि मैं सुखपूर्वक सोया, क्योंकि मेरा मन प्रसन्न है, मेरी बुद्धि निपुणता देती है इत्यादि अथवा मैं दुःखपूर्वक सोया, क्योंकि मेरा मन आलस्य भरा है, घूम रहा है बेठिकाने है इत्यादि। अथवा मैं गहरी मूढ़तापूर्वक सोया क्योंकि मेरे अङ्ग भारी हो रहे हैं, मेरा मन थका, आलस्य भरा, चुराया सा है इत्यादि। इससे जाना जाता है कि यदि निद्रा कोई मनोवृत्ति न होती तो ये प्रतीतियां न होतीं इस लिये प्रमाण, विपर्यय और विकल्प से भिन्न "निद्रा" एक चौथी वृत्ति है।

[५] अनुभूत विषय का न खोया जाना " स्मृति " कहाती है॥

अनुभव किये हुवे विषय को स्मरण करना और अनुभव को स्मरण करना, इन दोनों का नाम स्मृति है, क्योंकि अनुभव के स्मरण विना अनुभूत का स्मरण संभव नहीं। किसी पुरुष को एक वार देख कर दूसरी वार देखते समय यदि हम उस पुरुष मात्र का स्मरण करें तो तब तक न हो सकेगा जब तक कि हम पूर्व देख चुकने का स्मरण न करें। इस लिये किसी पदार्थ के अनुभव करना और अनुभूत पदार्थ, इन दोनों को बोधसंस्कारगत पदार्थों में से ढूंढना वा टटोल लेना (न भूल जाना वा न खोया जाना) स्मृति कहाती है। वह स्मृति योगभाष्यकार कहते हैं कि दो प्रकार की है। १-भावितस्मर्त्तव्या और २-अभावितस्मर्त्तव्या। जिस में स्मर्त्तव्य पदार्थ की भावना कीगई हो वह भावितस्मर्त्तव्या नाम की स्मृति वृत्ति स्वप्न में होती है। दूसरी जिस में स्मर्त्तव्य पदार्थ की भावना नहीं की गई, वह अभावितस्मर्त्तव्या नाम की स्मृति वृत्ति जाग्रत् में होती है॥ (देखो योगदर्शन पाद १ सूत्र ५ से ११ तक) ॥३३॥

इन पांचों वृत्तियों की निवृत्ति होने से पुरुष की क्या दशा होती है? उत्तर-

* तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ॥ ३४ ॥ (९८)

उन (वृत्तियों) की निवृत्ति होने पर (पुरुष) उपरागों के उपशम से स्वस्थ होजाता है॥

चेतनमात्र स्वरूप से स्वस्थ भी पुरुष मनोवृत्तियों के प्रवाह से अस्वस्थ जान पड़ता है, सो जब वृत्तियें निवृत्त हो जाती हैं तो पुरुष को उपराग (छाया) नहीं रहती, उपराग के उपशान्त होने से पुरुष अपने निजस्वरूप में स्वस्थ जान पड़ेगा ॥ ३४ ॥ यथा—

*** कुसुमवच्च मणिः ॥३५॥ (९९)**

जैसे मणि, पुष्प के [उपराग उपशान्त होने पर स्वस्थ प्रतीत होने लगता है]॥

स्फटिक मणि स्वरूप से उज्ज्वल निर्मल रङ्गरहित है, परन्तु जपापुष्प आदि जिस रङ्ग का पुष्प उस के समीप उपाधि उत्पन्न करेगा, मणि में उसी रङ्ग की झलक वा छाया पड़ने से मणि का रङ्ग भी उस पुष्प के सा जान पड़ेगा, परन्तु कुसुम (पुष्प) के निवृत्त होजाने (हट जाने) पर मणि में कोई रङ्ग न पाया जायगा किन्तु जैसा कि स्फटिक मणि स्वभाव से वा स्वरूप से निर्लेप है, ठीक वैसा ही यथार्थ पाया जायगा। इसी प्रकार स्वरूप से शुद्ध निर्मल पुरुष (आत्मा) भी मनोवृत्तियों के संसर्ग से अस्वस्थ और मनोवृत्तियों के निवृत्त होने पर स्वस्थ शान्त जाना जायगा ॥ ३५ ॥

*** पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यऽदृष्टोल्लासात् ॥३६॥ (१००)**

करणों की उत्पत्ति भी पुरुष के ही अर्थ है, प्रारब्धकर्म के निमित्त से ॥

जैसे प्रकृति की प्रवृत्ति अपने लिये नहीं है किन्तु पुरुष के भोग मोक्ष संपादनार्थ है वैसे ही करणों (बाह्याऽऽभ्यन्तर इन्द्रियों) की उत्पत्ति और प्रवृत्ति भी पुरुष के लिये है, निमित्त (कारण) उस का अदृष्ट (प्रारब्धकर्म) है ॥ ३६ ॥ दृष्टान्त—

*** धेनुवद्वत्साय ॥ ३७ ॥ (१०१)**

जैसे बछड़े के लिये गौ की प्रवृत्ति है ॥

गौ के स्तनों में जिस प्रकार दुग्ध अपने लिये नहीं उपजता किन्तु वत्स के लिये। इसी प्रकार इन्द्रियें अपने लिये भोग नहीं करतीं किन्तु पुरुष के लिये ॥ ३७ ॥

*** करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ॥३८॥ (१०२)**

इन्द्रियें अवान्तर भेद से तेरह १३ प्रकार के हैं ॥

१ बुद्धि, २ अहंकार, ३ मन, ५ ज्ञानेन्द्रियें (४—नासिका, ५ रसना, ६ चक्षु,

७ त्वचा, ८ श्रोत्र), ५ कर्मेन्द्रियें (९ गुदा, १० मूत्रेन्द्रिय, ११ हाथ, १२ पाव, १३ वाणी) इस अवान्तर भेद से इन्द्रियें १३ प्रकार के हैं ॥ ३८ ॥

* इन्द्रियेषु साधकतमत्वगुणयोगात्कुठारवत् ॥३९॥ (१०३)

इन्द्रियों में साधकतमत्व गुण के योग से कुठार के समान (वे करण कहाती हैं)॥

जैसे कुठार=कुल्हाड़ी से बढ़ई लकड़ी फाड़ता है, वैसे इन्द्रियों से पुरुष भोगों का ग्रहण और प्रयत्न करता है इस लिये इन्द्रियों को करण (साधन) कहते हैं ॥ ३९ ॥

* द्वयोः प्रधानं मनोलोकवद्भृत्येषु ॥४०॥ (१०४)

दोनों में मन प्रधान है, जैसे भृत्यों में लोक (स्वामी) ॥

बाह्येन्द्रियों और अन्तःकरणों में मन मुख्य है, मन की प्रेरणा से बाहर भीतर के दोनों प्रकार के इन्द्रिय अपना २ काम करते हैं जैसे भृत्य (नौकर) लोकों (लोगों=मालिकों=स्वामियों की प्रेरणा से काम करते हैं) ॥ ४० ॥ मन की प्रधानता के ३ हेतु हैं । १ यह कि–

* अव्यभिचारात् ॥ ४१ ॥ (१०५)

व्यभिचार न होने से ॥

ऐसा व्यभिचार नहीं होता कि कोई इन्द्रिय बिना मन की प्रेरणा के कोई काम करे ॥ ४१ ॥ २ यह कि–

* तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् ॥ ४२ ॥ (१०६)

और अशेष (सब) संस्कारों का आधार होने से ॥

मन में ही सब संस्कार रहते हैं इस लिये मन प्रधान है ॥४२॥ ३ यह कि–

* स्मृत्यानुमानाच्च ॥ ४३ ॥ (१०७)

स्मृति से अनुमान से भी ॥

सब इन्द्रियों के संस्कार स्मृति रूप से मन में रहते हैं इस से अनुमान होता है कि भीतर भीतर मन ही सब को चलाने वाला सब में प्रधान है ॥४३॥

यदि कहो कि तो फिर स्वयं बुद्धि को ही केवल एक इन्द्रिय मान लेना चाहिये, अन्य इन्द्रियों के मानने की क्या आवश्यकता है ? तो उत्तर–

* संभवेन्न स्वतः ॥ ४४ ॥ (१०८)

स्वतः (बुद्धि ही इन्द्रिय) हो नहीं सकती ॥

क्योंकि इन्द्रिय नाम साधन=करण का है, वह बुद्धि स्वयं ही विना अन्य इन्द्रियों की सहायता के रूपादि ग्रहण नहीं कर सकती अतः केवल स्वतन्त्र एक बुद्धि ही को करण मान कर अन्य इन्द्रियों का न मानना बन नहीं सका ॥ ४४ ॥ किन्तु—

* आपेक्षिकोगुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ॥४५॥ (१०९)

सापेक्ष गुणों की प्रधानता है क्रियाविशेष से ॥

सब इन्द्रियों की क्रिया (काम) विशेष हैं, अतः परस्पर सापेक्ष गुणों की प्रधानता है। चक्षुरादि १० इन्द्रियों की अपेक्षा से मन प्रधान है, मन की अपेक्षा से अहंकार और अहंकार से बुद्धि प्रधान (मुख्य) है ॥ ४५ ॥

यदि कहो कि अपने २ गुणों की प्रधानता से इन्द्रियों में परस्पर सापेक्ष मुख्यता है तो वे पुरुष के लिये क्यों काम करती हैं, अपने लिये ही स्वतन्त्र क्यों न करें ? तो उत्तर—

* तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ॥ ४६ ॥ (११०)

उस (पुरुष) के कर्मों से कमाया होने से उसी (पुरुष) के लिये सब चेष्टा है, जैसे लोक में ॥

जैसे लोक में कुठारादि को मनुष्य बनाता है और फिर मनुष्य के लिये ही कुठारादि काम देते हैं, ऐसे ही इन्द्रियों को पुरुष ने अपने पूर्व कर्म (प्रारब्ध) से अर्जित किया=कमाया है, इस लिये इन्द्रियों की अभिचेष्टा (सब चेष्टायें) उस पुरुष के अर्थ होती हैं और होनी चाहियें ॥ ४६ ॥

* समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् ॥४७॥ (१११)

बराबर के काम करने पर भी बुद्धि की प्रधानता है, जैसे लोक में ॥

यद्यपि मन अहङ्कार और आंख आदि समान काम करें तब भी बुद्धि की क्रिया मुख्य वा प्रधान मानी जायगी, जैसे लोक में राजा के मन्त्री भृत्य आदि सभी राजाज्ञा का समान भाव से पालन करते हैं तो भी मन्त्री को

प्रधानता मानी जाती है, इसी प्रकार राजा पुरुष है तो मन्त्री बुद्धि है और अन्य इन्द्रियें भृत्यवत् हैं ॥

लोकवत् पाठ की द्विरावृत्ति अध्यायसमाप्ति के सूचनार्थ है ॥ ४७ ॥

इस प्रकार पुरुष के प्रयोजनार्थ भोग मोक्ष सम्पादनार्थ प्रकृति की ईश्वराधीन प्रवृत्ति और उस से अन्य अठारह १८ तत्त्व इस द्वितीयाऽध्याय में निरूपित किये गये हैं ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामि-कृते
सांख्यदर्शन-भाषानुवादे
द्वितीयोऽध्यायः
॥ २ ॥

ओ३म्

अथ तृतीयोऽध्यायः

अब क्रमागत महाभूतों की उत्पत्ति कहते हैं:-

* अविशेषाद्विशेषारम्भः ॥ १ ॥ (११२)

अविशेष से विशेष का आरम्भ है ॥

शान्त घोर मूढ इत्यादि विशेषों रहित=अविशेष=पञ्चतन्मात्रों से विशेष=स्थूल महाभूत जो पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश हैं जिन में शान्तता घोरता मूढता आदि विशेष भेद हैं, वे उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

* तस्माच्छरीरस्य ॥ २ ॥ (११३)

उस से शरीर की (उत्पत्ति वा आरम्भ है) ॥

उस महाभूतपञ्चक से देहों की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

* तद्बीजात्संसृतिः ॥ ३ ॥ (११४)

उस के बीज से संसृति होती है ॥

उस स्थूल देह के बीज (१ अहंकार, २ बुद्धि, ३-७ पञ्चतन्मात्रा ८-१७ दश इन्द्रियें) इस १७ तत्त्वों के लिङ्ग शरीर से संसृति अर्थात् जन्म मरण का प्रवाह पुनर्जन्मादि पुनर्मरणादि होता है ॥ ३ ॥ और-

* अविवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम् ॥ ४ ॥ (११५)

जब तक विवेक हो तब तक अविशेष=पञ्चतन्मात्रों की प्रवृत्ति रहती है ॥

ये सूक्ष्म तन्मात्र तब तक स्थूल महाभूतों द्वारा देहों को उत्पन्न करते और मारते रहते हैं और जन्म मरण का चक्र चलाते रहते हैं, जब तक कि पुरुष को अपने स्वरूप चैतन्य और जड़ प्रकृति का विवेक नहीं होता। विवेक होने पर मोक्ष है ॥ ४ ॥

* उपभोगादितरस्य ॥ ५ ॥ (११६)

अन्य (अविवेकी) के उपभोग से ॥

अन्य=इतर=अविवेकी पुरुष प्रकृति के उपभोग में इस लिये लगा रहता है कि वह विवेकाऽभाव से जान ही नहीं सका कि भोग दुःखदायक हैं और वैराग्य अन्त में ब्रह्मानन्ददायक है, विना जाने उसी में लगा रहने से जन्म जन्मान्तर और मरण से मरणान्तर के हेतु कर्मों को करता ही रहता है, वे ही बीजरूप से वृक्षरूप देहों और फलरूप भोगों को उत्पन्न करते रहते हैं॥

जब आत्मा वा पुरुष एक देह को त्याग कर दूसरे देह को जाता है मार्ग (संसृति=संसारोन्मुख गति) चलते समय में उस को सुख होता है दुःख ? उत्तर–

* सम्प्रति परिमुक्तो द्वाभ्याम् ॥ ६ ॥ (११७)

संप्रति (संसृति के समय में) दोनों से मुक्त होता है ॥

उस समय न सुख होता है, न दुःख होता है॥ इस से भूत प्रेतों के भो खण्डित जानो ॥ ६ ॥ लिङ्ग शरीर और स्थूल शरीर में क्या भेद है ? उत्तर

* मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा ॥ ७ ॥ (११८

स्थूल (देह) प्रायशः माता पिता से उत्पन्न होता है और दूसरा (लि देह) ऐसा नहीं है ॥

बहुधा स्थूल देह की उत्पत्ति माता पिता से होती है, परन्तु लिङ्ग शरी माता पिता से नहीं बनता। प्रायशः इस लिये कहा है कि प्रायः स्वेद उद्भिज्जादि की उत्पत्ति विना माता पिता के भी होती देखी जाती है। त सृष्टि के आरम्भ में अमैथुनी अयोनिजा सृष्टि विना माता पिता भी होती है॥

* पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ॥८॥ (११९

एक (लिङ्ग देह) के पूर्व उत्पन्न होने और भोग भोगने से भोगायतन उसी को है, दूसरे (स्थूल) को नहीं ॥

स्थूलदेहमात्र को विना लिङ्ग देह (१७ तत्वात्मक) के भोग नहीं दे जाता इस लिये भोगायतन मुख्यतः लिङ्ग शरीर है, तथा लिङ्ग शरीर पहले (सृष्ट्यारम्भ में) उत्पन्न हुवा उसी से कार्यरूप स्थूल देह पीछे बने, इस लिये भी भोगायतन लिङ्ग शरीर ही है स्थूल नहीं ॥ ८ ॥

* सप्तदशैकं लिङ्गम् ॥ ९ ॥ (१२०)

सत्रह का एक लिङ्ग (देह) होता है ॥

पञ्चतन्मात्रा, १० इन्द्रियां, मन बुद्धि अहंकार ये १७ मिलकर एक लिङ्ग शरीर कहाता है जो प्रति स्थूल देह का पृथक् २ एक एक लिङ्ग देह है ॥

यदि कहो कि जब लिङ्ग शरीर में मनुष्य पशु पक्षी आदि आकार भेद नहीं तो प्रतिशरीर एक एक पृथक् २ व्यक्तिभेद क्यों माना जावे ? तो उत्तर—

* व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ॥ १० ॥ (१२१)

कर्मविशेष से व्यक्तिभेद है ॥

सब लिङ्गशरीर एक से कर्मों के भोगार्थ नहीं बने किन्तु विलक्षण कर्मों के विलक्षण भोग पाने को बने हैं अतः वे परस्पर एक दूसरे से भिन्न व्यक्ति हैं। एक ही लिङ्ग देह सब का होता तो भोग भी सब का उस एक को होता, तब कर्मफलभोग की व्यवस्था न रहती ॥ १० ॥

जब लिङ्ग शरीर ही भोगायतन है तो स्थूलदेह को शरीर ही क्यों कहा जाता है ? क्योंकि शरीर तो भोगायतन (भोगस्थान) को कहते हैं ? उत्तर—

* तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात्तद्वादः ॥११॥ (१२२)

उस (कर्मविशेष) के अधिष्ठान (बुद्धितत्त्व) के आश्रय देह में उस (देहत्व) कथन से उस (स्थूल) में भी देहवाद है ॥

कर्मविशेष का अधिष्ठान तो केवल बुद्धि है, वह बुद्धि लिङ्ग शरीर को आश्रय करती है, इस लिये लिङ्ग शरीर को जैसे शरीर=भोगायतन कहते हैं वैसे ही वह लिङ्ग शरीर इस स्थूल शरीर को आश्रय करता है इस से इस स्थूल को भी शरीर=भोगायतन कहने लगे हैं ॥ ११ ॥ परन्तु—

* न स्वातन्त्र्यात्तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥ १२ ॥ (१२३)

स्वतन्त्र (बुद्धि तत्त्व भी भोगों को) नहीं भोग सक्ता, उस (देह) के विना, जैसे छाया और चित्र ॥

जैसे आश्रय के विना छाया नहीं होती और जैसे आश्रय के विना चित्र नहीं खिंच सक्ता, वैसे ही देह के विना बुद्धितत्त्व भी स्थिर नहीं रहसक्ता, इस लिये देह को भोगायतन कहा जाता है ॥ १२ ॥

यदि कहो कि तो फिर लिङ्ग शरीरमात्र से ही पुरुष को भोग सिद्ध हो जायगा, स्थूल शरीर की क्या आवश्यकता है ? तो उत्तर—

*** मूर्त्तत्वेऽपि न संघातयोगात् तरणिवत् ॥१३॥ (१२४)**

मूर्त्त होने पर भी (लिङ्ग शरीर स्वतन्त्र भोग) नहीं भोग सक्ता, संघात के योग से, जैसे सूर्य ॥

प्रथम तो लिङ्गशरीर अमूर्त्त सूक्ष्म है, उस को भोग होवें कैसे? और यदि उस को मूर्त्त भी मानलें तो भी भोग तो संघात होने पर होते हैं, विना संघात नहीं, इसलिये केवल लिङ्ग शरीर मात्र से भोग सिद्ध नहीं होता। जैसे सूर्य की धूप है, परन्तु किसी घट पट भित्ति आदि पर पड़ कर ही प्रतीत होती है, स्वतन्त्र अकेली नहीं ॥ १३ ॥

अब सूक्ष्म वा लिङ्ग देह का परिमाण बताते हैं:-

*** अणुपरिमाणं तत्कृतिश्रुतेः ॥ १४ ॥ (१२५)**

वह अणुपरिमाण (नहीं) है क्योंकि उस का कार्य श्रुत है ॥

एतस्माज्जायते प्राणः इत्यादि मुण्डकोपनिषद् आदि श्रुतियों से लिङ्ग शरीर को उत्पत्तिमान् सुनते हैं अतः वह अणुपरिमाण नहीं, किन्तु मध्यम परिमाण वाला है। " न " शब्द की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति है ॥१४॥ तथा

*** तदन्नमयत्वश्रुतेश्च ॥ १५ ॥ (१२६)**

उस के अन्नमयत्व श्रवण से भी ॥

छान्दोग्य प्रपाठक ६ खण्ड ५ में श्रुति है कि **अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्** ॥ अर्थात् मन अन्न का, प्राण जल का और वाणी तेज का विकार है=अन्न से मन बनता है, जल से प्राण बनते हैं और वाणी तेजस्तत्त्व से बनती है इस लिये मन आदि १७ का संघात रूप लिङ्ग शरीर अणुपरिमाण नहीं होसक्ता, तब उस को मध्यमपरिमाण ही मानना ठीक है ॥ १५ ॥

यदि कहो कि लिङ्ग शरीर मध्यमपरिमाण ही रहो, परन्तु तो भी वह जड़ है, फिर वह संसरण (देह से देहान्तर गमन) क्यों करता है ? तो उत्तर

*** पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवत् ॥ १६ ॥ (१२७)**

लिङ्ग शरीरों की गति पुरुष के लिये है जैसे रसोइये की ॥

जैसे वेतन लेकर रोटी बनाने वाला रसोइया जो पाकशाला (रसोई

में जाता है, वह अपने लिये नहीं, किन्तु राजादि अपने स्वामी के लिये जाता है, वैसे ही लिङ्ग शरीरों का गमनागमन पुरुष के लिये भोगसाधनों के संग्रह और संपादनार्थ है ॥ १६ ॥ अब स्थूल देह का स्वरूप बताते हैं:–

* पाञ्चभौतिकोदेहः ॥ १७ ॥ (१२८)

पञ्चभूतों का विकार (स्थूल) देह है ॥

पृथिवी जल तेज वायु और आकाश इन पञ्चस्थूल महाभूतों से स्थूल शरीर=देह उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥ अन्य मत–

* चातुर्भौतिकमित्येके ॥ १८ ॥ (१२९)

कोई कहते हैं कि (देह) चार महाभूतों का विकार है ॥

जो आचार्य आकाश के अपरिणामीपन को लक्ष्य में धरते हैं, वे ४ महाभूतों का विकार ही देह को मानते हैं, आकाश भी देह में रहो, परन्तु मुख्य करके स्थूल देह चारों स्थूल भूतों से ही बना है ॥ १८ ॥

* ऐकभौतिकमित्यपरे ॥ १९ ॥ (१३०)

अन्य आचार्य एक ही महाभूत का विकार देह को मानते हैं ॥

यद्यपि पाञ्चों भूतों से देह की उत्पत्ति है, परन्तु पार्थिव देह जो पृथिवी में से उत्पन्न होकर अन्त में पृथिवी में ही लीन होते देखे जाते हैं, इस स्थूल विचार से वे लोग देह को ऐकभौतिक ही कहते हैं ॥१९॥ यदि कहो कि देह ही चेतन स्वाभाविक है, पुरुष कोई पृथक् चेतन नहीं, तो उत्तर–

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकाऽदृष्टेः ॥ २० ॥ (१३१)

स्वाभाविक चेतनता नहीं बनती, क्योंकि प्रत्येक (भूत) में नहीं दीखती ॥

क्योंकि पृथिवी आदि प्रत्येक भूत में चेतनता नहीं, अतः पांचों वा चारों वा एक ही भूत का विकार देह को मानो, तब भी देह में अपनी स्वाभाविक चेतना नहीं है ॥ २० ॥ और–

* प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च ॥ २१ ॥ (१३२)

(स्वाभाविक देह में चेतनता होती तो) संसार में मरणादि न होते ॥

यदि पञ्चभूतों ही में स्वाभाविक चेतनता होती तो कोई न मरता क्यों

कि पुरुष की चेतनता मानने में तो उस के निकल जाने से मरणादि होते हैं, जब पञ्चभूतों के बने देह में स्वाभाविक अपनी निज की चेतनता (विना पुरुष के) होती तो कोई देहधारी कभी न मरता, न कभी सुषुप्ति में जाता ॥२१॥ यदि कहो कि ५ भूतों में पृथक् २ चेतनता नहीं भी हो, तो भी संयोग से मदशक्ति के समान चेतनता उत्पन्न हो जाती है, तो उत्तर–

* मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सांहत्ये तदुद्भवः ॥२२॥ (१३३)

यदि मदशक्ति के समान मानो तो वह (मदशक्ति) तो प्रत्येक में अनुमान दृष्ट है और मिलने पर उस का प्राकट्यमात्र होता है ॥

प्रत्येक द्राक्षादि में छुपी हुई मदशक्ति संहत होने पर प्रकट हो जाती है परन्तु पृथिवी आदि में छिपी हुई चेतनता का कोई प्रमाण नहीं। द्राक्षादि में छुपी मदशक्ति तो वैद्यक शास्त्रादिप्रमाणसिद्ध है जो न्यायदर्शन ३०९ से ३१२ तक में भी प्रतिपादित है। यथा–

"जो लोग इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख को केवल अन्तःकरण का धर्म मानते हैं उन के मत का खण्डन गोतम मुनि भी करते हैं:–

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥ न्याय० [३०९]

उ०–ज्ञाता की प्रवृत्ति और निवृत्ति ही इच्छा और द्वेष का मूल होने से (इच्छादि आत्मा [पुरुष] के लिङ्ग हैं) ॥

आत्मा पहिले इस बात को जानता है कि यह मेरा सुखसाधन है और यह दुःखसाधन। फिर जाने हुवे सुखसाधन के ग्रहण और दुःखसाधन के त्याग करने की इच्छा करता है, इच्छा से युक्त हुवा सुखप्राप्त और दुःख-निवृत्ति के लिये यत्न करता है। इस प्रकार ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख और दुःख, इन सब का जिस एक के साथ सम्बन्ध है वह आत्मा (पुरुष) है। इस लिये इच्छादि छहों लिङ्ग चेतन आत्मा के हैं, न कि अचेतन अन्तःकरण के ॥ शङ्का–

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोःपार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥ न्या० [३१०]

पू०–इच्छा और द्वेष के प्रवृत्ति और निवृत्ति का लिङ्ग होने से पृथिवी आदि (भूतों के सङ्घात=शरीर) में ज्ञानादि का निषेध नहीं हो सकता ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति के चिह्न इच्छा और द्वेष हैं अर्थात् इच्छा से प्रवृत्ति और द्वेष से निवृत्ति होती है और ये दोनों इच्छा और द्वेष शरीर के धर्म

हैं, क्योंकि इन का सम्बन्ध चेष्टा से है और चेष्टा का आश्रय शरीर है, अत एव इच्छादि शरीर के ही धर्म हैं ॥ आगे उक्त पक्ष में दोष दिया है कि—

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ न्या० [३११]
कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥ न्या० [३१२]

उ०—कुठारादि में आरम्भ और निवृत्ति तथा कुम्भादि में उन की उपलब्धि न होने से (उक्त हेतु अहेतु है) ॥

यदि आरम्भ (प्रवृत्ति) और निवृत्ति के होने से इच्छादि शरीर के गुण मानोगे तो कुठार आदि साधनों में भी ज्ञानादि की अतिव्याप्ति होगी क्योंकि कुठार आदि में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप क्रिया देखने में आती है। इसी प्रकार कुम्भादि में प्रवृत्ति और बालू आदि में निवृत्ति के होने पर भी इच्छा और द्वेष की उपलब्धि उन में नहीं होती, अतएव इच्छा और द्वेष के प्रवृत्ति और निवृत्ति लिङ्ग हैं, यह हेतु हेत्वाभास है ॥ आगे प्रतिपक्षी के हेतु का खण्डन करके सिद्धान्त कहा है:—

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ न्या० [३१३]

उ०—उन (इच्छा और द्वेष) के भेदक तो नियम और अनियम हैं ॥

ज्ञाता (प्रयोक्ता) की इच्छा और द्वेषमूलक प्रवृत्ति और निवृत्तियें अपने आश्रय नहीं हैं किन्तु प्रयोज्य (शरीर) के आश्रय हैं। प्रयुज्यमान भूतों में प्रवृत्ति और निवृत्ति होती हैं, सब में नहीं, इस लिये अनियम की उपपत्ति है और आत्मा (पुरुष) की प्रेरणा से भूतों में इच्छाद्वेषनिमित्तक प्रवृत्ति और निवृत्ति उत्पन्न होती हैं, विना प्रेरणा के नहीं, इस लिये नियम की उपपत्ति है। तात्पर्य यह है कि इच्छा और द्वेष प्रयोजक (आत्मा=पुरुष) के आश्रित हैं और प्रवृत्ति व निवृत्ति प्रयोज्य (शरीर) के आश्रित हैं, अतएव इच्छादि आत्मा (पुरुष) ही के लिङ्ग हैं ॥ आगे इच्छादि अन्तःकरण के धर्म न होने में दूसरी युक्ति कही है:—

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः [३१४]

उ०—उक्त हेतु से, मन के परतन्त्र होने से और विना किये हुये की प्राप्ति होने से (इच्छादि) मन के धर्म नहीं हैं ॥

इस सूत्र में मन शब्द से शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों का ग्रहण करना चाहिये। आत्मसिद्धि के अब तक जितने हेतु यहां न्याय में कहे गये हैं, उन से

इच्छादि का आत्मलिङ्ग होना सिद्ध ही है, उन के अतिरिक्त मन आदि के परतन्त्र होने से भी इच्छादि मन के धर्म नहीं हो सकते क्योंकि मन आदि क्रिया में स्वतन्त्रता से नहीं किन्तु आत्मा (पुरुष) की प्रेरणा से प्रवृत्त होते हैं। इस के अतिरिक्त यदि मन आदि को स्वतन्त्र कर्त्ता माना जावे तो अकृताभ्यागम रूप (करे कोई और भरे कोई) दोष आता है क्योंकि शुभाऽशुभ कर्मों को स्वतन्त्रता से करें तो ये, और उन का फल जन्मान्तर में भोगना पड़े अन्य अन्तःकरण को और यह हो नहीं सकता॥ पुनः इसी की पुष्टि की हैः-

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ न्या० [३१५]

उ०-परिशेष और उक्त हेतुओं की उपपत्ति से भी (ज्ञानादि आत्मा के धर्म हैं)॥

जब यह बात उपपत्तियों से सिद्ध हो गई कि ज्ञानादि-इन्द्रिय, मन और शरीर के धर्म नहीं हैं, तब इन से शेष क्या रहता है? आत्मा। बस आत्मा (पुरुष) के धर्म ज्ञानादि स्वतः सिद्ध होगये। इस के अतिरिक्त न्यायशास्त्र में इस से पूर्व जो आत्मसिद्धि के हेतु दिये गये हैं, यथा-"दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्" इत्यादि; उन से भी ज्ञानादि चिह्न आत्मा के ही सिद्ध होते हैं॥ आगे स्मृति का भी आत्मगुण होना प्रतिपादन किया हैः-

स्मरणन्त्वात्मनोज्ञस्वाभाव्यात् ॥ न्याय० [३१६]

उ०-ज्ञाता का स्वभाव होने से स्मरण भी आत्मा का ही धर्म है॥

स्मृति ज्ञान के आश्रित है, क्योंकि जाना, जानता हूं, जानूंगा इत्यादि त्रैकालिक स्मृतियां ज्ञान के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं। जब ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अर्थात् ज्ञान और चेतन (पुरुष=आत्मा) का तादात्म्य सम्बन्ध है तब स्मृति, जो उस से उत्पन्न होती है, आत्मा के अतिरिक्त दूसरे का धर्म क्योंकर हो सकती है? इत्यादि॥ इस प्रकार न्याय का मत भी सांख्य के ही समान है॥ २२॥

* ज्ञानान्मुक्तिः ॥ २३ ॥ (१३४)

ज्ञान से मुक्ति होती है॥ २३॥

* बन्धोविपर्ययात् ॥ २४ ॥ (१३५)

विपरीत (उलटे ज्ञान) से बन्धन होता है॥ २४॥

* नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ॥ २५ ॥ (१३६)

नियत कारण होने से समुच्चय और विकल्प नहीं हैं ॥

मुक्ति और बन्ध के नियत दो पृथक् २ कारण हैं, ज्ञान मुक्ति का और विपरीत ज्ञान बन्ध का। इस लिये न तो समुच्चय अर्थात् अन्य अनेक कारणों के समुदाय की आवश्यकता है और न विकल्प की अर्थात् न यह विकल्प है कि ज्ञान से कभी मुक्ति हो, कभी न हो, वा विपरीत ज्ञान से कभी बन्ध हो, कभी न हो, किन्तु ये दोनों नियत कारण हैं। ज्ञान से नियत मुक्ति और विपरीत ज्ञान से नियत बन्धन होता ही है ॥ २५ ॥

* स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकाऽमायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ॥ २६ ॥ (१३७)

जैसे स्वप्न माया (प्रकृति) से और जागरण अमाया (प्रकृति से पृथक्त्व) से होता है, वैसे ही दोनों (समुच्चय और विकल्प) में पुरुष की मुक्ति नहीं हो सकती ॥

जैसे स्वप्न में प्रकृति का सम्बन्ध नियत है, और जागरण में उस का हटना नियत है, इस में समुच्चय वा विकल्प नहीं होसक्ता, इसी प्रकार बन्ध और मोक्ष के नियत दोनों कारण विपरीत ज्ञान और यथार्थज्ञान (विवेक ज्ञान) में भी समुच्चय और विकल्प को अवसर नहीं। जैसा कि वेद में लिखा है कि " तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति " यजुः ३१। १८ उस (परमात्मा) को जान कर ही मोक्ष को प्राप्त होता है, अन्य मार्ग नहीं है ॥ २६ ॥

* इतरस्याऽपि नात्यन्तिकम् ॥ २७ ॥ (१३८)

(ज्ञान से) इतर=कर्म का फल भी अत्यन्तदुःखनिवृत्ति नहीं है ॥

ज्ञान से इतर=भिन्न=कर्म का फल भी दुःखत्रय की अत्यन्त निवृत्ति=मोक्ष नहीं हो सक्ता, क्योंकि सभी कर्म मायिक हैं=प्रकृति के सङ्ग से बनते हैं, प्रकृति सत्त्व रजस् तमस् तीन गुणों वाली है, इस लिये उस के सङ्ग तक पुरुष का मोक्ष सम्भव नहीं ॥ २७ ॥

* सङ्कल्पितेऽप्येवम् ॥ २८ ॥ (१३९)

मन से संकल्पितमात्र कर्म में भी यही बात है ॥

यदि कहो कि शारीरक कर्म मुक्ति न करासकें तो न सही, मानस कर्म=उपासनादि तो ऐसे हैं जिन में प्राकृत सम्बन्ध नहीं, उन से तो मोक्ष हो जायगा ?

उत्तर यह है कि नहीं, क्योंकि मानस सङ्कल्प भी मन के प्राकृत होने प्राकृत हैं=मायिक हैं। मायिक से मोक्ष नहीं, बन्धन ही है ॥ २८ ॥

कर्म उपासना दोनों से मोक्ष नहीं तो वेद में कर्म उपासना ज्ञान का प्रतिपादन क्यों किया है? केवल ज्ञान ही प्रतिपादनीय था? कर्म उपासना तो व्यर्थ रहे? उत्तर—

*** भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ॥ २९ ॥ (१४०)**

भावना के संग्रह से शुद्ध (पुरुष) को सर्व (ज्ञान) होजाता है, स्वभाव से ॥

जैसा कि पुरुष प्रकृति से (स्वभाव से) ज्ञानी चेतन है, ठीक वैसा तब होजाता है जब कि भावना=ध्यान का उपचय=प्रबलसञ्चय हो। ध्यान उपासना का अङ्ग है, उपासना की योग्यता स्वकर्मानुष्ठान से होती है। लिये कर्म और उपासना व्यर्थ नहीं, किन्तु "कुर्वन्नेवेह कर्माणि०" यजुः ४०। के अनुसार स्वकर्मानुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध होता है, शुद्ध अन्तःकरण ध्यानादि उपासना बनती और उपासना से पुरुष को ब्रह्मज्ञानप्राप्ति योग्यता होती है। ज्ञान से (सूत्र १३४) के अनुसार मुक्ति होती है। लिये वेद ने क्रम से उत्तरोत्तर अधिकारी बनाने के लिये कर्म उपासना ज्ञान काण्डत्रय में उपदेश किया है ॥ २९ ॥ अब उपासनाङ्ग=ध्यान का वर्णन करते हैं

*** रागोपहतिर्ध्यानम् ॥ ३० ॥ (१४१)**

राग का नाश ध्यान है ॥

चित्त की चञ्चलता के हेतु शब्द स्पर्शादि विषय हैं, विषयों में अनुराग को राग कहते हैं, उस राग का दबाना, दबाकर चित्त को निर्विषय करना ध्यान है। जैसा कि योगदर्शन १०७। १०८ में कहा गया है:—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ योग० [१०७]

चित्त का किसी (नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धा, भ्रूमध्य, नेत्रकोण, नासिकाग्र इत्यादि) देश में बान्धना धारणा कहाती है। अपने देह के अवयवों को छोड़कर चन्द्र सूर्य तारा आदि में वा अन्य किसी एक देश में चित्त लगाना भी धारणा है ॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ योग० [१०८]

उस (धारणा) में प्रत्यय (ज्ञान) का एकता रहना ध्यान है ॥

किसी देश में जब चित्त लगाया जाय वह तो धारणा है और धारणा में ही जब अभ्यास पकजाने से चित्त डिगे नहीं, किन्तु उस देश का (जिस नाभिचक्रादि में चित्त लगाकर धारणा की थी) ज्ञान एकसा बना रहे, इस को उस देश का ध्यान कहते हैं ॥ इस प्रकार योगानुकूल ही सांख्य है ॥

कोई लोग इसी को ब्रह्म का ध्यान समझकर भ्रम में पड़ते हैं। ब्रह्म वाङ्मनसाऽतीत है, वाणी और मन (चित्त) का विषय न होने से ब्रह्म की धारणा वा ब्रह्म का ध्यान संभव नहीं, किन्तु जहां कहीं "ब्रह्म का ध्यान" अन्यत्र शास्त्रों में कहा है, वहां "ध्यान" शब्द से सांख्य योग दर्शनों का लाक्षणिक ध्यान विवक्षित नहीं, किन्तु आत्मा में जो (प्राकृत मन वा चित्त नहीं) ज्ञान-शक्ति है, तद्द्वारा ब्रह्म को जानना ही ब्रह्म का ध्यान समझना चाहिये ॥ ३० ॥

* वृत्तिनिरोधात्तत्सिद्धिः ॥ ३१ ॥ (१४२)

वृत्तियों को रोकने से उस (ध्यान) की सिद्धि होती है ॥

मन की वृत्तियों को रोकने से ध्यान बनता है। जैसा कि योग शास्त्र में कह आये हैं। देखो सूत्र "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (२) इस में यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि सांख्य में चित्त शब्द का व्यवहार न करके मन बुद्धि अहंकार इन ३ को ही अन्तःकरणत्रय कहा है परन्तु ठीक योगशास्त्र के भाव को लेकर ही सांख्यकार इस सूत्र ३१ को रचते हैं जिस से इन्हीं मन आदि तीनों में सांख्याचार्य को चित्त का अन्तर्भाव अभिमत प्रतीत होता है ॥ ३१ ॥

वृत्तियों को किस प्रकार रोका जावे ? उत्तर—

* धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥३२॥ (१४३)

धारणा आसन और स्वकर्म से उस (वृत्तिनिरोध) की सिद्धि होती है ॥

धारणा, आसन और स्वकर्म का वर्णन आगे सूत्रों द्वारा स्वयं आचार्य करते हैं। यथा धारणा—

* निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ॥ ३३ ॥ (१४४)

छर्दि और विधारण से निरोध होता है ॥

रेचक प्राणायाम=छर्दि और पूरक प्राणायाम=विधारण इन दोनों के करने से निरोध सिद्ध होता है। इसी प्राण के निरोध को धारणा कहते हैं ॥३३॥

तथा आसन का निरूपण यह है:—

* स्थिरसुखमासनम् ॥ ३४ ॥ (१४५)

जो स्थिर सुखपूर्वक बैठना है वह आसन है ॥

यद्यपि स्वस्तिकासन आदि भेद से योगशास्त्र में अनेक आसन कहे हैं परन्तु उन में मुख्य लक्षण आसन का यही है कि जिस प्रकार बैठने से स्थिरता और सुख हो, किसी प्रकार की चञ्चलता वा दुःख न हो ॥ योगशास्त्र में भी ठीक इन्हीं शब्दों का ऐसा ही सूत्र इसी आशय का है जो साधनपाद का ४६ (९७) वां सूत्र है ॥ धारणा का वर्णन भी उल्लिखित योगदर्शन तृतीय विभूतिपाद सूत्र १ (१०७) में किया गया है, वह भी इस सांख्य के तुल्य है ॥

आगे तीसरे काम "स्वकर्म" का निरूपण करते हैं:-

* स्वकर्म=स्वाश्रमविहितकर्माऽनुष्ठानम् ॥ ३५ ॥ (१४६)

अपने आश्रम के लिये विधान किये हुवे कर्म का अनुष्ठान करना=स्वकर्म कहाता है ॥

वेदादि शास्त्रों में जिस २ ब्रह्मचर्यादि आश्रम में जिस २ सन्ध्योपासनादि कर्म का विधान किया गया है उस २ को उस २ विधि से करना=इस का नाम स्वकर्मानुष्ठान है ॥३५॥ ये तीन उपाय १-धारणा, २ आसन, ३ स्वकर्म बताये गये, जिन से ध्यान की सिद्धि होती है । आगे और भी उपाय कहते हैं:-

* वैराग्यादभ्यासाच्च ॥ ३६ ॥ (१४७)

वैराग्य और अभ्याससे भी (वृत्तिनिरोध होकर ध्यान होता है) ॥

यही बात इन्ही शब्दों में केवल समास करके योगदर्शन में कही गई है । यथा-

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ योग० [१२]

(बार २ रोकने के) अभ्यास और वैराग्य से उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध होता है ॥

चित्तवृत्ति एक नदी के समान है जिस की दो धारें हैं । पुण्य और पाप दो स्थानों को वे दोनों धारें बहती हैं । जो कैवल्य रूप ऊपर के बोझ वा दबाव से विवेक रूप नीचे देश में बहती है, वह पुण्य स्थान को बहती है और जो संसाररूप ऊपर के बोझ वा दबाव से अविवेकरूप नीचे देश में बहती है

पाप स्थान को बहती है। इस लिये वार वार अभ्यास करके और पापवहा धारा के परिणाम दुःखभोगों और मलिनताओं के विचार करने से उत्पन्न हुवे वैराग्य द्वारा इन का निरोध करना चाहिये। वैराग्य से विषय का स्रोत बन्द किया जाता है, और विवेकोत्पादक शास्त्रों के अभ्यास से विवेक स्रोत को उघाड़ा जाता है, इन दोनों के अधीन चित्तवृत्तिनिरोध होजाता है॥ अभ्यास और वैराग्य का अर्थ बताने को योगदर्शन में अगले ये सूत्र हैं:—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

इन (अभ्यास वैराग्य दोनों) में से ठहरावका यत्न करना अभ्यास कहाताहै॥ वृत्तिरहित चित्त का ठहराव स्थिति कहाता है, उस स्थिति के लिये यत्न पुरुषार्थ उत्साह (हिम्मत) करना अर्थात् स्थिति के संपादन करने की इच्छा से उस स्थिति के साधनों का अनुष्ठान (अमल) करना=अभ्यास है॥

आगे अगले योग सूत्र में अभ्यास की रीति और दृढ़ता संपादन करना बताया है:-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

और वह (अभ्यास) बहुत काल तक लगातार भले प्रकार सेवन करने से दृढभूमि हो जाता (जड़ पकड़ जाता) है॥ बहुत काल पर्यन्त लगातार तप ब्रह्मचर्य विद्या श्रद्धा आदि सत्कारपूर्वक अभ्यास दृढ़ हो जाता है॥ वार २ अभ्यास और इतर पदार्थों से वैराग्य (अप्रीति) वा अलिप्तता होने से चित्त एकाग्र होता है अन्यथा चित्त बड़ा चञ्चल है, इस के भीतर अनेक शुभसङ्कल्प कुसङ्कल्प उठा करते हैं। चित्त की गति रोकने वाले को प्रथम परमात्मा से यह भी प्रार्थना करनी चाहिये कि हे भगवन्! मेरे मन में, बुरे सङ्कल्प न उठें, शुभ सङ्कल्प उठें। जैसा कि वेद में प्रार्थना का उपदेश है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

यजुः ३४ । १ ॥

हे भगवन्! (तत्, मे, मनः) वह, मेरा, मन (शिवसङ्कल्पम्, अस्तु) शुभसङ्कल्प वाला, हो (यत्, जाग्रतः, दूरम्, उदैति) जो जैसे, जागते का दूर

जाता है (तत्, सुप्तस्य, च, तथा, एव, एति) वह, सोते का, भी, वैसे, ही जाता है (दैवम्) दिव्य है (एकं, ज्योतिषां, ज्योतिः) एक, ज्योतियों की, ज्योति है। तात्पर्य यह है कि मन जिस प्रकार जागते समय में विषयों में दौड़ा २ फिरता है, उसी प्रकार स्वप्न (निद्रा) में भी, जब कि हाथ नहीं चलते, पैर नहीं चलते, कान नहीं सुनते, नाक नहीं सूंघती, आंखें नहीं देखतीं, त्वचा नहीं छूती और समस्त बाहर के व्यापार बन्द होते हैं, तब भी मन दौड़ने में वैसा ही फुरतीला रहता है, जैसा कि जागते समय में। अब मनुष्य अपनी शक्ति भर इस के रोकने में श्रम करता है और नहीं रुकता तो कम से कम इस की गति को बुराई से रोक कर भलाई की ओर को ही फेरना चाहिये। उन भलाइयों में इस को बहुत दिनों तक दौड़ने देवे तो उन (भलाइयों) के बदले परमात्मा प्रसन्न होकर इस असमर्थ जीवात्मा को मन रोकने का सामर्थ्य देते हैं और जब यह कृपा होती है, तब मानो कार्यसिद्धि में देर नहीं रहती। इस प्रकार मन को रोकने से पहिले शुभकर्मानुष्ठान के लिये छोड़ देना चाहिये। जिस से हुई ईश्वर की कृपा से इस के रोकने का सामर्थ्य प्राप्त हो। कदाचित् पाठक यह पूछेंगे कि—जब कि परमात्मा 'वाङ्मनोतीत' अर्थात् वाणी और मन का विषय नहीं है, मन उस को नहीं पहचान सकता क्योंकि वह प्राकृत स्थूल है अतः वह सूक्ष्मतम परमात्मा की भक्ति नहीं कर सकता इस लिये मन उस की भक्ति का साधन ही नहीं तो फिर उस की भक्ति में मन कैसे लगे ?

इस का उत्तर यह है कि यद्यपि मन साक्षात् परमात्मा की भक्ति का साधन नहीं तथापि हमारा ज्ञान जो मन की प्रेरी हुई इन्द्रियों के द्वारा क्षीण होता रहता है वह क्षीण होना बन्द हो जावे और क्रमशः बढ़ता जावे, जिस से हम उस महान् उच्च, मन की गति से दूर, परन्तु आत्मा में ही स्थित परमात्मा की भक्ति कर सकें। जिस प्रकार एक नहर से खेतों में पानी देते हैं परन्तु जो खेत पानी के बहाव से ऊंचे हैं उन में पानी नहीं पहुंचता क्योंकि वह आगे को बहा जाता है किन्तु यदि उस पानी का आगे के बहाव का मार्ग रोक दिया जावे जैसा कि सलीपर डालकर नहर वाले पानी को ऊंचा कर देते हैं तो उन ऊंचे खेतों में भी पानी की गति हो जा सकती है जिन में कि इस से प्रथम पानी नहीं जा सकता था। ठीक इसी प्रकार मानवात्मा का परिमितज्ञान और वह भी

इन्द्रियों के छिद्रों के द्वारा प्रतिक्षण नहर (कुल्या) के पानी के समान बहता है तो भला फिर उस अपरिमित और अत्यन्त उच्च परमात्मा तक कैसे पहुंचे? मनुष्य का ज्ञान यथार्थ में इन्द्रियछिद्रों द्वारा बहता है अर्थात् विषयों में ख़र्च होता रहता है, इस कारण उस में और भी न्यूनता हो जाती है। सब जानते हैं कि मनुष्यों को देखने का काम बहुत पड़े तो दर्शनशक्ति घट जाती है। चलने से पांव थकजाते हैं। सुनने से कान थकजाते हैं। इसी प्रकार विचारने से बुद्धि थकजाती है। स्मरण करने को बहुत बात हों तो स्मृति थकजाती है। जिन लोगों का लेन देन थोड़ा है वे तो उसे स्मरण रख सक्ते हैं, परन्तु जिन का व्यापार बहुत है वे स्मरणार्थ रजिस्टर वा बही और फिर भिन्न २ खाते का काग़ज़ लिखते हैं और तिस पर भी प्रायः भूलजाते हैं। कारण यही है कि ज्ञेय विषय के बढ़जाने से ज्ञान सब में थोड़ा २ बंट जाता है। जब कि सांसारिक पदार्थों के जानने में भी स्मृति के बंट जाने से कठिनाई होती है तो परमात्मा, जो सब से सूक्ष्मतम है, उस के जानने में जितनी कठिनाई पड़े सो सत्य है। इस लिये परमात्मा की भक्ति के अभिलाषी पुरुष को इन्द्रियव्यापार से हटाकर ज्ञान को नहर के पानी के समान रोक कर उच्च बनाना चाहिये॥

परन्तु एक वार यह समझने मात्र से काम नहीं चल सक्ता कि चित्तवृत्तियों को बाहर न जाने दिया जावे, किन्तु सब लोग नित्य देखते हैं कि एक विद्यार्थी को पाठ का अर्थ का ज्ञान करा दिया जाता है परन्तु वार वार अभ्यास के विना ज्ञान नहीं ठहरता। जब हम सड़क पर चलते हैं और अनुमान २४ अङ्गुल (१॥ फ़ुट) भूमि की चौड़ाई से अधिक अपेक्षित नहीं होती अर्थात् चाहे सड़क १० गज़ चौड़ी हो, परन्तु हम केवल आधे गज़ मात्र चौड़ाई पर चलते हैं। हमें यह ज्ञान भी है कि हमारे चलने के लिये इतने से अधिक चौड़ाई की आवश्यकता नहीं, परन्तु क्या हम किसी ऐसी सड़क पर जो केवल आध गज़ ही चौड़ी हो, सुगमता से चल सकते हैं? कभी नहीं, जब तक ऐसी सङ्कुचित सड़क पर चलने का अभ्यास न हो, कभी निश्शङ्कभाव से नहीं चल सकते। किन्तु अभ्यास की महिमा अपार है। अभ्यास होने पर न केवल उस आध गज़ चौड़ी सड़क पर चल सकते हैं प्रत्युत उस से भी अत्यन्त सङ्कुचित केवल एक अङ्गुल मोटे रस्से (रज्जु) पर भी चल सकते हैं जो केवल सङ्कुचित ही नहीं किन्तु हिलता भी है, जिसके टूट जाने का भी भय है,

जो पृथ्वी से दूर है परन्तु अभ्यास बड़ी वस्तु है, अभ्यास के द्वारा चित्त वृत्तियें कितनी भी रुक्त हों, निरुद्ध हो सक्ती हैं ॥ आगे योग में वैराग्य का वर्णन किया है:—

दृष्टाऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

देखे और (शास्त्र से) सुने विषयों की तृष्णा से रहित (चित्त का) वशीकार वैराग्य कहाता है ॥

अन्न पान मैथुनादि सांसारिक और मरणानन्तर अन्य जन्मों, अन्य लोकों तथा अन्य योनियों में शास्त्रानुसार मिलने वाले पारलौकिक विषयों में से उनकी असारता जान कर चित्त का हटाना वैराग्य कहाता है। जब ज्ञान बढ़ता है तौ जो विषय सुखदायक जान पड़ते थे वे फिर दुःखदायक क्या दुःखरूप ही दीखने लगते हैं और इस प्रकार विषयों में दोष दीखने से उन का राग जाता रहता और वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। जैसा कि पूर्व इसी सांख्य में कहा जा चुका है कि—

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेप्यनुवृत्तिदर्शनात् ॥ १ ॥ २॥

मनुष्य के आध्यात्मिकादि तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्तिरूप सिद्धि सांसारिक दृष्ट पदार्थों से नहीं हो सकती, क्योंकि उन से दुःखनिवृत्ति होते ही तत्काल पुनः दुःख की अनुवृत्ति देखते हैं। कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य को क्षुधारूप दुःख है, उस की निवृत्ति के लिये वह दो पहर के १२ बजे ८ छटांक भोजन करता है और सायंकाल के ८ बजे दूसरी बार क्षुधा लगती है। उस की निवृत्ति के लिये फिर ८ छटांक भोजन करता है। ऐसा ही नित्य किया करता है। अब विचारना चाहिये कि क्या उस की क्षुधा १२ बजे से ८ बजे तक ८ घण्टे के लिये निवृत्त हो जाती है? कदापि नहीं। अच्छा क्या ६ बजे क्षुधा न थी? अवश्य थी। क्या इस से पूर्व न थी? नहीं २ कुछ न कुछ अवश्य थी किन्तु वह ८ छटांक की क्षुधा जो सायङ्काल ८ बजे पूरी क्षुधा हुई है, वह ४ बजे भी चार छटांक की क्षुधा अवश्य थी और एक बजे दोपहर को भी एक छटांक की क्षुधा थी ही। वह क्रमशः एक २ घण्टे में एक २ छटांक बढ़ती आई और बढ़ते २ ठीक आठ बजे पुनः पूर्ववत् पूरी ८ छटांक मांगने लगी। इतना ही नहीं, किन्तु वह १ घण्टे के ६० वें भाग

एक मिनट में १ छटांक का ६० वां भाग क्षुधा भी अवश्य थी। मानो जिस समय तृप्त होकर दोपहर को उठ थे उसी समय से वह पिशाची क्षुधा साथ २ फिरती और बढ़ती जाती थी। इसी प्रकार अन्य भी किसी दृष्ट पदार्थ से दुःख की सर्वथा निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि सांसारिक समस्त साधन जिन से हम दुःख की निवृत्ति और स्थिर सुख की प्राप्ति की इच्छा करते हैं और इसी प्रयोजन से अनेक प्रकार के कष्ट सह कर भी उन के उपार्जन की चेष्टा करते हैं, वे सब स्वयं ही स्थिर नहीं, किन्तु प्रतिक्षण नाशोन्मुख दौड़े जाते हैं। तब हमें क्या सुख दे सकते हैं ? इस प्रकार विचारा जावे तो बहुत सहज में दृष्ट सांसारिक पदार्थों की असारता समझ में आजाती है, तब फिर इन में ऐसा राग करना जैसा कि सर्वसाधारण करते हैं, बुद्धिमान् को नहीं रहता। जब यह समझ में आजाता है तभी इन विषयभोगों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है॥

इसी प्रकार अन्य देह गेह आदि की भी नश्वरता समझ पड़ती है तब उन में राग नहीं रहता और वैराग्य उत्पन्न हो जाता है" ॥ ३६ ॥

इसी अध्याय ३ सूत्र २४ में **बन्धोविपर्ययात्** कहा था, अतः आगे विपर्यय के ५ भेद वर्णन करते हैंः—

* विपर्ययभेदाः पञ्च ॥ ३७ ॥ (१४८)

विपर्यय के पांच भेद हैं॥

योगदर्शन में इन्हीं ५ विपर्ययों के नाम ५ क्लेश रक्खे गये हैं। वे ये हैंः— १-अविद्या, २-अस्मिता, ३-राग, ४-द्वेष और ५-अभिनिवेश। इन पाञ्चों के ज्ञानार्थ योगदर्शन पाद २ सूत्र ३ से ९ तक देखिये॥ सांख्यदर्शन के सभी टीकाकार और भाष्यकार ऐकमत्य से योगदर्शन वाले ५ क्लेशों को ही ५ विपर्यय सांख्य में कहे मानते हैं, अतः यह निर्विवाद ही है॥ ३७॥

अब विपर्यय की कारणभूत अशक्तियों का वर्णन करते हैंः—

* अशक्तिरष्टाविंशतिधा ॥ (१४९)

२८ अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति हैं॥

* तुष्टिर्नवधा ॥ (१५०)

तुष्टि ९ नव प्रकार की होती हैं॥

* सिद्धिरष्टधा ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ (१५१)

सिद्धि आठ प्रकार की होती हैं ॥

२८ अशक्तियों के ये नाम हैं-गुदा, उपस्थ, हाथ, पांव, वाणी; ये ५ कर्मेन्द्रिय, कान, त्वचा, आंख, जीभ, नाक ये पांच ज्ञानेन्द्रिय, ग्यारहवां मन, इन की ११ अशक्ति अर्थात् क्रमशः-उत्सर्ग की अशक्ति आनन्द की अशक्ति, ग्रहण करने की अशक्ति, गमन की अशक्ति, वचन की अशक्ति, श्रवण की अशक्ति, स्पर्श की अशक्ति, दर्शन की अशक्ति, चखने की अशक्ति, सूंघने की अशक्ति और मनन की अशक्ति ये ११ अशक्ति हुई, ९ तुष्टि जिन का आगे वर्णन करेंगे उन के न होने से ९ प्रकार की अशक्तियां; आठ ८ सिद्धि जिन का आगे वर्णन करेंगे उन के न होने से ८ प्रकार की अशक्तियां; ये सब ११ । ९ । ८ मिलाकर २८ अशक्तियां हैं ॥ ३८ ॥ ९ तुष्टि उन में १-कोई तो प्रकृति के ज्ञानमात्र से तुष्ट हो जाता है । २ कोई संन्यासचिन्हों के धारण से संतुष्ट हो जाता है । ३ कोई यह समझ कर तुष्ट हो जाता है कि काल ही सब कुछ कर लेता है । ४ कोई भाग्य के भरोसे पर तुष्ट हो जाता है । ५ कोई यह समझ कर तुष्ट बैठ रहता है कि विषयों का भोग अशक्य है । ६ कोई विषय:थे कमाये धन की रक्षा में कष्ट देख कर तुष्ट हो जाता है । ७ कोई यह समझ कर तुष्ट हो जाता है कि मेरे भोग चाहे जितने हों परन्तु उन से भी अधिक अन्यों के पास हैं । ८ कोई इस कारण तुष्ट हो जाता है कि विषयों से तृप्ति तो होती हो नहीं । ९ कोई विषयभोग में दूसरों की हिंसा को देख उपरत हो बैठता है, इस प्रकार ९ तुष्टि हुई ॥३९॥ ८ सिद्धि योग में ये हैं, यथा-अणिमा महिमा गरिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व और वशित्व । ये योगशास्त्र के विभूतिपादस्थ ४४ वें सूत्र और उस की व्याख्या में वर्णन किये हैं:-

यथा-"ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४४ ॥

तब अणिमादि का प्रादुर्भाव और देह की संपदा (ऐश्वर्य) और उन (५ भूतों) के धर्मों से चोट न लगना होता है ॥

भूतजयनाम ४३ वें योगसूत्र में कही सिद्धि का अनन्तर फल रूप ये ८ अन्य सिद्धियां और होती हैं । १-अणिमा-देह को सूक्ष्म कर सकना । २-लघिमा-देह को बोझ में हलका कर सकना । ३-महिमा-देह को फैलाव में बड़ा

सकना। ४ प्राप्ति—इष्ट पदार्थ को समीप प्राप्त कर सकना। ये चार ४ सिद्धियां वा विभूतियां पांच ५ महाभूतों के "स्थूल" रूप में संयम से उत्पन्न होती हैं। ५-प्राकाम्य-इच्छा का पूरा होना, उस में रुकावट न होना। यह "स्वरूप" संयम का फल है। ६-वशित्व—महाभूतों और पाञ्चभौतिक प्राणियों का वश में कर सकना। यह "सूक्ष्म" रूप में संयम का फल है। ७-ईशितृत्व-भूत और भौतिक पदार्थों को उत्पन्न और नष्ट कर सकना। यह व्यासभाष्य का मत है। भोजवृत्ति में देह और अन्तःकरण को अधिकार में कर लेना=ईशितृत्व कहा है। यह "अन्वय" में संयम का फल है। ८-यत्र कामावसायित्व=जो सङ्कल्प करे सो पूरा हो, यह "अर्थवत्त्व" में संयम का फल है॥"

परन्तु सांख्यकार आठ ८ सिद्धियां (ऊहा) आदि पृथक् गिनावेंगे। ये दोनों आचार्यों की दो भिन्न २ कल्पनायें हैं, इतने से एक का दूसरे से विरोध नहीं होता॥ ४०॥

३७ वें सूत्र में-विपर्ययभेदाः पञ्च कहा था, अब उन भेदों के अवान्तर भेद कहते हैं:—

* अवान्तरभेदाः पूर्ववत्॥ ४१॥ (१५२)

अवान्तर भेद पूर्वाचार्यों के तुल्य जानो॥

अन्य पहले आचार्य लोगों ने जितने अन्य अवान्तर भेद माने हैं वही सांख्याचार्य कपिल मुनि को इष्ट हैं अतएव वे स्वयं अवान्तर भेदों की गणना नहीं करते। वे अवान्तर भेद इस प्रकार ६२ हैं कि—१-अव्यक्त प्रकृति जो अनात्मा है उस को आत्मा वा पुरुष समझना, २-महत्तत्त्व बुद्धि को आत्मा समझना, ३-अहंकार को आत्मा समझना, ४-८ रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श इन ५ तन्मात्रों को आत्मा जानना, यह ८ प्रकार का तम नाम अविद्या संज्ञक विपर्यय उलटा ज्ञान है। ९-१६ अणिमा आदि ८ सिद्धियों में यह विपरीत ज्ञान होना कि—मैं अणु हूं, मैं गुरु=भारी हूं, मैं महान्=बड़ा हूं, इत्यादि। यह अस्मिता अज्ञान ८ प्रकार का विपर्यय का अवान्तर भेद हुआ॥ १७-२६-५ दिव्य शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध और ५ अदिव्य सब १० प्रकार के विषयों में राग महामोह नामक १० प्रकार का विपर्यय अवान्तर भेद जानिये॥ २७-४४-अस्मिता के ८ आठ विषय और राग के १० विषय इन १८ विषयों के विघा-

सब पदार्थों में क्रोध द्वेष तामिस्त्र नामक १८ प्रकार के अवान्तर भेद ...
विपर्यय के ही अवान्तर भेद हैं ॥ ४५-६२ इन्हीं १८ विषयों के विनाश ...
अनुसंधान करने से जो १८ प्रकार के त्रास उत्पन्न होते हैं वे अभिनिवेश नाम...
अन्धतामिस्त्राऽपरनामक विपर्यय के १८ भेद गिन कर सब ६२ विपर्यय के भेद
हुवे और ५ विपर्ययों के अवान्तर भेद हैं ॥ ४१ ॥

* एवमितरस्याः ॥ ४२ ॥ (१५३)

इसी प्रकार इतर (अशक्ति) के भी (अवान्तर भेद पूर्वाचार्यों के प्रसिद्ध किये हुवे ही जानने चाहियें) ॥

इन का वर्णन सूत्र ३८ में हम कर चुके हैं ॥ ४२ ॥

* आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ॥ ४३ ॥ (१५४)

आध्यात्मिक आदि भेद से तुष्टि ९ प्रकार की है ॥

इस का विवरण ऊपर ३९ वें सूत्र के भाष्य में आगया ॥ ४३ ॥

* ऊहादिभिः सिद्धिः ॥ ४४ ॥ (१५५)

ऊहा आदिकों से सिद्धि (भेद वाली है) ॥

सिद्धि के ऊहा आदि भेद हैं जो योगदर्शनोक्त ८ सिद्धियों के समान संख्या में ८ ही हैं। आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से ३ प्रकार के दुःखों का विघात होने से मुख्य ३ प्रकार की सिद्धियां हैं। उनके उपायभूत ५ अन्य हैं=इस प्रकार सब ८ हैं ॥

१-उपदेशादि के विना ही पूर्वजन्मकृत कर्माऽभ्यास के वश से तत्त्व को स्वयं ऊहित करलेना, यह ऊहा नाम की सिद्धि है। २-दूसरे को पढ़ते पढ़ाते सुन कर वा स्वयं विना गुरु के शास्त्र को बांच कर तत्त्व जान लेना, शब्द नाम की दूसरी सिद्धि है। ३-गुरुशिष्यभाव से शास्त्राऽध्ययन करके जो ज्ञान उपजता है वह अध्ययन नाम की तीसरी सिद्धि है। ४-उपदेशार्थ स्वयं घर पर आये परमदयालु अतिथि आदि से ज्ञान का लाभ होजाना सुहृत्प्राप्ति नाम की चौथी सिद्धि है। ५-धनादि देकर प्रसन्न किये पुरुष से ज्ञान का लाभ होना दान नाम की ५ वीं सिद्धि है। ये उपाय भूत ५ सिद्धियां हुईं, इन में आध्यात्मिकादि दुःखत्रय के नाशरूप फलस्वरूप ३ सिद्धियें मिलाने से ८ हो जाती हैं ॥ ४४ ॥

* नेतरादितरहानेन विना ॥ ४५ ॥ (१५६)

अन्य की हानि बिना अन्य (उपाय) से (सिद्धि) नहीं ॥

ऊहादि उपायों के अतिरिक्त अन्य किसी तप आदि उपाय से सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि तप आदि से इतर=विपर्यय ज्ञान की हानि नहीं और विपर्ययज्ञानहानि के बिना सिद्धि नहीं ॥ ४५ ॥

* दैवादिप्रभेदा ॥ ४६ ॥ (१५७)

(सृष्टि) दैवी आदि भेद वाली है ॥

अगले सूत्र में सृष्टि पद आवेगा, उस की अनुवृत्ति करके—सृष्टि के भेद दैवी सृष्टि आदि हैं। सूर्यादि देवों की सृष्टि दैवी सृष्टि है, देवदत्तादि मनुष्यों की मानुषी सृष्टि कहाती है, सर्पादि तिर्यग्योनि के प्राणियों की रचना तिर्यक् सृष्टि समझनी चाहिये ॥ ४६ ॥

दैवी आदि अनेकविध सृष्टियों का प्रयोजन—

* आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ॥४७॥ (१५८)

ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब=स्थावर पर्यन्त सृष्टि उस (पुरुष) के लिये है, (वह भी) विवेक होने तक ॥

चतुर्वेदज्ञ ब्रह्मा से लेकर वृक्षादि स्थावर योनि पर्यन्त जितनी सृष्टि है सब पुरुष के लिये है, परन्तु वह भी विवेक होने तक अर्थात् विवेक=यथार्थ ज्ञान वा तत्त्वज्ञान होने पर पुरुष को सृष्टि नहीं होती ॥ ४७ ॥

सृष्टि का विभाग अगले सूत्रों में कहते हैं:—

* ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला ॥ ४८ ॥ (१५९)

जिस में सत्त्वगुण बहुत है वह सृष्टि उच्च है ॥ ४८ ॥

* तमोविशाला मूलतः ॥ ४९ ॥ (१६०)

नीचे से तमोगुणप्रधान सृष्टि है ॥ ४९ ॥

* मध्ये रजोविशाला ॥ ५० ॥ (१६१)

बीच में की सृष्टि रजोगुणप्रधान है ॥ ५० ॥

क्यों जी ! यह विचित्र सृष्टि प्रकृति से क्यों उत्पन्न होती है ? एक समान ही सारी सृष्टि क्यों न होवई ? उत्तर-

*** कर्मवैचित्र्यात्प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥ ५१ ॥ (१६२)**

कर्मों की विचित्रता से प्रधान (प्रकृति) की चेष्टा गर्भदास के समान है।

दो प्रकार के दास=सेवक हैं। एक जन्मदास जो जन्म के पश्चात् सेवा करते हैं, दूसरे गर्भदास जो गर्भाधान समय से ही सेवक हैं। उन में जन्मदास तो कोई सेवा करे कोई न करे, क्योंकि वह सेव्य का अनुनय करके किन्हीं सेवाओं से अपने को बचा सकता है, परन्तु गर्भदास को कोई अधिकार नहीं कि किसी प्रकार की सेवा से भी अपने को बचा सके। इसी प्रकार प्रकृति भी गर्भदास के समान पुरुष की अनादि सेवक है, पुरुष अनादि काल से जैसे विचित्र कर्म करता है, प्रकृति को उन के फल भोगार्थ वैसी ही विचित्र सृष्टि रचनी पड़ती है, उसे क्या अधिकार कि एक ही प्रकार की सृष्टि रचे वह तो पुरुष की दासी (सेविका) है, और दासी भी कैसी ? जन्मदासी नहीं, किन्तु गर्भदासी। फिर भला प्रकृति को स्वतन्त्रता कहां, वह तो पुरुष के कर्माधीन हुई विचित्र कर्मों के भोगार्थ विचित्र सृष्टि के उत्पादन में विवश है ॥ ५१ ॥

इस विचित्र सृष्टि में यद्यपि सत्त्वगुणप्रधान उच्च सृष्टि भी है, परन्तु वह भी मोक्षार्थी को त्यागने ही योग्य है, सो कहते हैं:-

*** आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ॥ ५२ ॥ (१६३)**

उन (उच्च) सृष्टियों में भी एक के पश्चात् दूसरी योनियों में जाने आने का चक्र (आवृत्ति) चलता ही रहता है इस कारण वह उक्त गति भी त्याज्य है ॥ ५२ ॥ क्योंकि:-

*** समानं जरामरणादिजं दुःखम् ॥ ५३ ॥ (१६४)**

बुढ़ापा और मृत्यु आदि से हुआ दुःख (वहां भी) समान है ॥

अर्थात् जैसे जन्म, मृत्यु, बुढापे यहां दुःख हैं, वैसे ही उच्च योनियों में भी हैं। अतः मुमुक्षु को उन का भी लालच न होना चाहिये ॥ ५३ ॥

यदि कहो कि प्रकृतिलय में सब पदार्थ अपने २ कारण में लय हो जायेंगे तब जन्म मरण आप ही छूट जायगा, मुक्ति का यत्न व्यर्थ है ? तो उत्तर-

*** न कारणलयात्कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानम् ॥५४॥ (१६५)**

कारण में लय होने से (पुरुष को) कृतकृत्यता नहीं हो सकती (क्योंकि) डुबकी लगाने वाले के समान फिर तिरना हुवा ॥

जैसे जल में विवश डूब जाने वाला फिर विवश फूलकर ऊपर ही आजाता है, इसी प्रकार प्रकृति में लीन हो जाने वालों को भी विवश फिर जन्म लेना पड़ता है, इस लिये प्रकृति में लयमात्र से पुरुष कृतकृत्य नहीं हो सकता। किन्तु उस को मुक्ति के लिये यत्न करना ही चाहिये। जिस को विवेक नहीं हुवा, केवल वैराग्य हुवा है, वह प्रकृतिलीन कहाता है ॥ ५४ ॥

*** अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥ ५५ ॥ (१६६)**

यद्यपि प्रकृति कार्य नहीं, तौ भी परतन्त्रता से उस (दुःख) का योग होता है ॥

प्रकृतिलीन पुरुषों को इस लिये जन्म मरण का चक्र नहीं छूटता कि यद्यपि प्रकृति कार्य पदार्थ नहीं, कारण पदार्थ है, परन्तु जड़ होने से परतन्त्र है, वह पुरुष को चक्र से निकाल नहीं सक्ती ॥ ५५ ॥

यदि कहो कि प्रकृति की परतन्त्रता में पर कौन है ? जिस के तन्त्र=अधीन प्रकृति है ? उत्तर—

*** स हि सर्ववित्सर्वकर्त्ता ॥ ५६ ॥ (१६७)**

वह तो सर्वज्ञ और सब का कर्त्ता (परमात्मा स्वतन्त्र है) ॥ ५६ ॥

*** ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ ५७ ॥ (१६८)**

ऐसे (प्रकृति के नियन्ता सर्वज्ञ सर्वकृत) ईश्वर की सिद्धि (युक्ति और वेदादि के प्रमाणों से) सिद्ध है ॥

जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् ६—१६। १७। १८ में प्रमाणित है कि—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारोगुणी सर्वविद्यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥१६॥

भाषार्थः—(यः) जो (प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः) प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी (गुणेशः) गुणों का वश में रखने वाला (संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः)

संसार के मोक्ष रक्षा और बन्धन का प्रयोजक है (सः) वह (विश्वकृत्) जगत् रचने वाला (विश्वविद्) और जगत् का जानने वाला (आत्मयोनिः) स्वयंभू (ज्ञः) चेतन (कालकारः) कालविभाग का कर्त्ता (गुणी) सद्गुणों से युक्त (सर्ववित्) सर्वज्ञ है ॥ १६ ॥

स तन्मयोह्यमृत ईशसंस्थोज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥१७॥

भावार्थः-(सः) वह (तन्मयः) आत्ममय है, किसी अन्य का विकार नहीं (हि) निश्चय (अमृतः) अमर है (ईशसंस्थः) एकरस है (ज्ञः) चेतन है (सर्वगः) विभु है (अस्य, भुवनस्य, नित्यम्, एव, गोप्ता) इस, जगत् की, नित्य, ही, रक्षा करता है (यः) जो (अस्य, जगतः) इस जगत् की (ईशे) ईश्वरता करता है (ईशनाय) आधीन रखने के लिये (अन्यः, हेतुः) अन्य, कारण (न, विद्यते) नहीं है ॥ १७ ॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तᳬं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥१८॥

भावार्थः-यहां श्वेता० उपनि० समाप्त होने को है, इस लिये प्रत्येक ऋषि परमात्मा के शरण में आत्मसमर्पण करता है कि-(यः) जो (पूर्वम्) आदि में (ब्रह्माणम्) वेदवेत्ता को (विदधाति) बनाता (च) और (तस्मै) उस के लिये (वेदान्) वेदों का (प्रहिणोति) प्रदान करता है (वै) निश्चय (तम्, आत्मबुद्धिप्रकाशम्, देवम्) उस, आत्मा और बुद्धि के प्रकाशक, देव को (अहं, मुमुक्षुः) मैं, मोक्षार्थी (शरणं, प्रपद्ये) शरण आता हूं ॥ १८ ॥

इस प्रकार सांख्यशास्त्रकार कपिल मुनि ५६ वें सूत्र में जिस सर्वज्ञ जगदीश्वर का वर्णन कर आये, उसी को इस ५७ वें सूत्र में प्रमाणसिद्ध बताते हैं, तब न जाने किस आधार पर लोग कपिल मुनि को अनीश्वरवादी कहते हुए पाप कमाते हैं ॥ ५७ ॥

* प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोप्यऽभोक्तृत्वा-दुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ॥ ५८ ॥ (१६९)

प्रकृति की सृष्टि (महत्तत्वादि) परार्थ ही है क्योंकि स्वतः अभोक्ता होने से, जैसे ऊंट का कुङ्कुम लादना ॥

जैसे ऊंट पराये लिये कुङ्कुम लाद लेचलता है, अपने लिये नहीं, वैसे ही प्रकृति भी अपने लिये सृष्टि को नहीं रचती क्योंकि स्वयं जड़ होने से भोक्ता नहीं हो सकती, किन्तु पराये लिये सृष्टि रचती है, वह पर कौन है? पुरुष=जीवात्मा ॥ ५८ ॥

यदि कहो कि अचेतन प्रधान (प्रकृति) चेष्टा कैसे करती है=सृष्टि को कैसे रचती है ? तो उत्तर—

*** अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥५९॥ (१७०)**

दूध के समान अचेतन प्रकृति की भी चेष्टा सिद्ध है ॥

जैसे दूध अचेतन है, तो भी बछड़े को बल पुष्टि इत्यादि देता है, वैसे ही प्रकृति भी अचेतन और पराधीन=ईश्वराधीन है, तथापि पुरुष के लिये भोगों की चेष्टा करती है ॥ ५९ ॥ अथवा—

*** कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः ॥ ६० ॥ (१७१)**

कालादि के काम के समान देखने से ॥

अथवा जैसा काल दिशा अदृष्ट=प्रारब्ध इत्यादि भी अचेतन हैं, परन्तु पुरुष के लिये भोगसाधन वसन्तादि ऋतुवों को उत्पन्न करते ही हैं, वैसे ही अचेतन भी प्रकृति पुरुष के लिये उस के कर्मफलभोगसाधनीभूत सृष्टि को रचती है ॥ ६०॥

*** स्वभावाच्चेष्टितमनभिसंधानाद् भृत्यवत् ॥६१॥ (१७२)**

स्वभाव से (प्रकृति की) चेष्टा है जैसे विना विचारे भृत्य की ॥

प्रकृति जड़ है, विचाररहित है, भले बुरे का अभिधान नहीं रखती तो भी स्वभाव से ईश्वर को ऐसे काम देती है जैसे भृत्य अपने स्वामी को। भृत्यों को जो आज्ञा होती है वही करने लग जाते हैं यद्यपि वे न जानें कि हम क्यों यह काम कर रहे हैं, परन्तु स्वामी की आज्ञा के वशवर्त्ती अज्ञानी मूर्ख सेवक काम वही करते हैं, जो स्वामी कराता है ॥ ६१ ॥

*** कर्माकृष्टेर्वाऽनादितः ॥ ६२ ॥ (१७३)**

अथवा अनादि कर्मों के आकर्षण से (प्रकृति चेष्टा करती है) ॥

क्योंकि जीवों के कर्म अनादि हैं उन के फल भोगवाने को ईश्वर के आकर्षण से प्रकृति चेष्टा करती है ॥ ६२ ॥

यदि कहो कि स्वभाव से वा कर्मों के आकर्षण से सृष्टि है तो मुक्ति कभी न होगी ? इस का उत्तर—

*** विविक्तबोधात्सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत्पाके ॥ ६३ ॥ (१७४)**

केवल बोध होजाने से सृष्टि की निवृत्ति ऐसे समझिये जैसे पाक सिद्ध होजाने पर सूद (रसोइये) की ॥

जैसे रसोइया उसी समय तक काम (आटा मलना, पोना, चलाना छौंकना, भूनना इत्यादि) काम करता है जब तक कि पाक सिद्ध न होजावे, जहां जान लिया कि पाक सिद्ध हुवा और रसोइया हाथ धोकर चुप चाप बैठ गया । इसी प्रकार जब तक पुरुष को प्रकृति और अपने तद्भिन्न चेतन अलिप्त स्वरूप का ज्ञान नहीं तब तक तन्निमित्त प्रकृति का काम सर्जनादि प्रवृत्त रहेगा, जहां काम पूरा हुवा, ज्ञान वा विवेक होगया कि झट प्रकृति के कार्य उपरत हुवे ॥ ६३ ॥

*** इतर इतरवत् तद्दोषात् ॥ ६४ ॥ (१७५)**

उस (प्रकृति) के दोष से और भी और सा जान पड़ता है ॥

पुरुष चेतन ज्ञानी विवेकी स्वरूप से है परन्तु और का और अर्थात् मूढ बन रहा है । इस का कारण प्रकृति का गुणत्रयात्मक दोष है ॥ ६४ ॥

*** द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ॥ ६५ ॥ (१७६)**

दोनों की वा एक की उदासीनता मोक्ष है ॥

प्रकृति और पुरुष दोनों में उदासीनता हो जावे, एक दूसरे का सङ्ग न करे, वा एक पुरुष में उदासीनता आजावे, तभी मुक्ति है ॥ ६५ ॥

*** अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते, प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्यैवोरगः ॥ ६६ ॥ (१७७)**

(प्रकृति) औरों की सृष्टि के उपराग में भी विरक्त नहीं होजाती, जैसे रस्सी का सांप वास्तविक रस्सी जान लेने वाले का ॥

जैसे रस्सी का बनावटी भ्रान्त्युत्पन्न सर्प, केवल उसी पुरुष को भ्रान्ति में डालना छोड़ देता है, जिस पुरुष को वास्तविक ज्ञान होगया कि रस्सी है, सर्प नहीं, परन्तु वही रस्सी अन्यों को (जिन्हों ने ठीक रस्सी ही है, ऐसा नहीं जान पाया) तो भ्रम में डालती ही रहेगी, इसी प्रकार प्रकृति भी केवल उस पुरुष को बांधना छोड़ देती है जिस ने आत्मतत्त्व जान लिया, परन्तु अन्य अज्ञानियों को फंसाये ही रहेगी, यह नहीं कि सब से विरक्त होजावे ॥ ६६ ॥

* कर्मनिमित्तयोगाच्च ॥ ६७ ॥ (१७८)

और कर्मों के निमित्त मिलने से भी (प्रकृति अन्यों से विरक्त नहीं होती) ॥

जिन अन्य जीवों के कर्म फल भोग शेष हैं, उन से इसलिये भी प्रकृति विरक्त वा अलग नहीं हो जाती कि कर्म फल भुगवाना है ॥ ६७ ॥

क्यों जी ! पुरुषों के प्रति यह प्रकृति क्यों काम में आती है जब कि प्रकृति को कोई अपेक्षा नहीं, तब निमित्त क्या है जिस से निरपेक्ष भी प्रकृति इतनी चेष्टा करती है ? उत्तर—

* नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ॥६८॥ (१७९)

प्रकृत्युपकार की निरपेक्षता में भी अविवेक (सृष्टि का) निमित्त है ॥६८॥

* नर्त्तकीवत्प्रवृत्तस्याऽपि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥६९॥ (१८०)

नटनी के समान काम कर चुकने से प्रवृत्त (प्रकृति) की भी निवृत्ति हो जाती है ॥

जैसे नृत्य करने वाली नटनी नाच पूरा होने पर चुप हो बैठती है, वैसे ही सृष्टि की उत्पत्ति करती हुई भी प्रकृति अपना काम कर चुकने से निवृत्त उपरत हो जाती है ॥ ६९ ॥

* दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलबधूवत् ॥७०॥ (१८१)

और दोष विदित होने पर भी प्रकृति का (पुरुष के) पास जाना नहीं हो सकता कुलबधू के समान ॥

जैसे किसी कुलीन स्त्री का व्यभिचारादि दोष उस के पति को ज्ञात हो जावे तो लज्जादि के कारण वह ज्ञातदोषा कुलाङ्गना निज पति के सामने जाती

सकुचती और नहीं जायपाती, इसी प्रकार जिस पुरुष को प्रकृति के दोष परिणामी पना, दुःखात्मक पना आदि ज्ञात होजाते हैं, फिर उस पुरुष के पास प्रकृति नहीं जासकती ॥ ७० ॥

यदि कहो कि प्रकृति के सङ्ग से जब पुरुष को बन्ध और सङ्गत्याग से मोक्ष होता है, तब क्या पुरुष भी कभी बद्ध और कभी मुक्त होने से परिणामी है ? उत्तर—

*** नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याऽविवेकादृते ॥७१॥(१८२)**

अविवेक के विना पुरुष के बन्ध और मोक्ष वास्तव में नहीं हैं ॥

जीव स्वरूप से बद्ध कभी नहीं, किन्तु अविवेक से बद्ध है, जब वास्तव में बद्ध नहीं, तो बन्धाऽपेक्ष मुक्ति को भी वास्तविक कह नहीं सकते ॥७१॥ किन्तु-

*** प्रकृतेराञ्जस्यात्ससंगत्वात्पशुवत् ॥ ७२ ॥ (१८३)**

(बन्ध मोक्ष) प्रकृति के वास्तव से हैं, (क्योंकि वह) ससङ्ग है, जैसे पशु॥

जैसे सङ्ग वाला पशु बन्धन में होता है, वैसे ही संगदोष वाली प्रकृति को बन्धन वास्तव में है। पुरुष को तो अविवेक से बन्धन है ॥ ७२ ॥

*** रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद्विमोचयत्येकरूपेण ॥ ७३ ॥ (१८४)**

प्रकृति आत्मा को सात ७ रूपों से बांधती और एक १ रूप से मुक्त करती है, जैसे मकड़ी ॥

१-धर्म, २-वैराग्य, ३-ऐश्वर्य, ४-अधर्म, ५-अवैराग्य, ६-अनैश्वर्य और ७-अज्ञान; इन ७ रूपों=गुणों से प्रकृति आत्मा को बांधती है और एक= विवेक ज्ञान से आत्मा को छुटाती है। जैसे मकड़ी अपने में से तार पूर कर अपने आत्मा को उन में फंसाती और फिर अपने आत्मबल से उन को तोड़ कर छूट जाती है ॥ ७३ ॥

*** निमित्तत्वमविवेकस्येति न दृष्टहानिः ॥ ७४ ॥ (१८५)**

अविवेक के निमित्तपने से दृष्ट की हानि नहीं ॥

अर्थात् अविवेक से बन्ध है, यहां अविवेक शब्द से जो पञ्चमी विभक्ति है, उस से कोई हानि नहीं क्योंकि देखने में आता है कि केवल उपादान

कारण में ही पञ्चमी नहीं देखी जाती, प्रत्युत निमित्त कारण में भी पञ्चमी होती है। क्योंकि अविवेक बन्ध का निमित्त है इस लिये निमित्त अविवेक शब्द से पञ्चमी विभक्ति ठीक ही है, इस में हानि नहीं। विज्ञानभिक्षु आदि कई टीकाकार और भाष्यकारों के मत में इस सूत्र में इति शब्द नहीं है॥७४॥ अब विवेकसिद्धि का प्रकार बताते हैं:-

*तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद् विवेकसिद्धिः॥७५॥ (१८६)

तत्त्व के अभ्यास करने और नेति नेति करके त्याग करने से विवेक सिद्ध होता है॥

यह प्रकृति और उस के महदादि कार्य (नेति २) आत्मा वा पुरुष नहीं हैं, ऐसा करके इन प्राकृत पदार्थों के त्यागने और शेष आत्मा नाम तत्त्व के बारंबार अभ्यास करने से विवेक (प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान) की सिद्धि हो जाती है॥ ७५॥ तो क्या सब को एक ही जन्म में सिद्धि (विवेक ज्ञान) होजाता है? उत्तर-

*अधिकारिप्रभेदान्न नियमः॥ ७६॥ (१८७)

अधिकारिप्रभेद से नियम नहीं॥

क्योंकि अधिकारी कई प्रकार के होते हैं, कोई मन्द अधिकारी हैं उन को देर से, जो मध्यम अधिकारी हैं उन को उस से न्यून देरी से और जो उत्तम अधिकारी हैं उन को और भी शीघ्र विवेक होजा सकता है, इस लिये कोई नियम नहीं कि विवेक एक जन्म में ही वा २। ३ जन्मों में ही वा २। ४ घड़ी में ही हो, कहां तक कहें, किसी को एक क्षण में ही विवेक होजा सकता है॥७६॥

*बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः॥७७॥ (१८८)

बाधित (दुःखों) की अनुवृत्ति से मध्यम विवेक होने पर भी उपभोग होता है॥

मन्द और मध्यम कक्षा के विवेक होने पर भी बाधित दुःखों की अनुवृत्ति से भोग भोगना पड़ता है अर्थात् उत्तम कक्षा के विवेक से उपभोग निवृत्त होता है॥ ७७॥ परन्तु-

*जीवन्मुक्तश्च॥ ७८॥ (१८९)

जीवन्मुक्त तो होजाता है॥

मन्द वा मध्यम विवेक द्वारा मनुष्य वर्तमान जन्म में अवशिष्ट आयुः काल में भोग तो भोगता रहता है, परन्तु पिछले कर्मों को भोग से निपटाता मात्र है, आगे को बन्धहेतु कर्म नहीं करता और इस से वह जीवन्मुक्त होजाता है ॥ ७८ ॥ यदि कहो कि उपभोग करता हुआ भी भला जीवन्मुक्त कैसे होसकता है ? तो उत्तर–

* उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ॥ ७९ ॥ (१९०)

उपदेश्य और उपदेशक भाव से उस (विवेक) की सिद्धि होजाती है।

मन्द वा मध्यम विवेकी उपदेश्य (उपदेश लेने वाला) बनता और उत्तम विवेकी उपदेशक होजाता है, इस प्रकार उत्तम विवेकी के उपदेश को पाकर मध्यम विवेकी जीवन्मुक्त होजाते हैं ॥ ७९ ॥

* श्रुतिश्च ॥ ८० ॥ (१९१)

श्रुति भी है ॥

आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न० इत्यादि छान्दोग्य ६ । १४ । २ में भी लिखा है कि यदि एक पुरुष को गन्धार देशों के जङ्गलों से आंखों पर पट्टी बांध कर बसे देशों में लाकर छोड़ दें और आंखों की पट्टी खोल कर बता दें कि देखो इस दिशा में गन्धार तेरा देश है जहां से आंख मीच कर तू लाया गया है, अब तू इसी दिशा को चला जा। गन्धार पहुंच जायगा। इस दशा में वह एक गांव से दूसरे गांव को बूझता २ अपने देशों में जा पहुंचेगा, इसी प्रकार पुरुष जो कि अविवेकरूप पट्टी को आंखों पर बांध कर संसार में आया है, यदि इस की पट्टी खोल दी जावे अर्थात् कुछ मन्द वा मध्यम भी विवेक इस को हो जावे तो फिर यह उत्तम विवेकियों से मार्ग बूझ २ कर विवेक की उन्नति करता हुआ जीवन्मुक्त हो जा सकता है ॥ ८० ॥

* इतरथाऽन्धपरंपरा ॥ ८१ ॥ (१९२)

नहीं तो अन्धपरंपरा होती है ॥

यदि उपदेश्य उपदेशक भाव न हो तो अन्धपरंपरा अर्थात् एक अविवेकी अन्धे के पीछे दूसरा अन्धा अविवेकी उस के पीछे तीसरा चौथा आदि सब अन्धों ही की परंपरा लगातार हो तो कोई किसी को मार्ग नहीं बता सकता ॥ ८१ ॥

यदि कहो कि विवेक से प्राकृत पदार्थों की निवृत्ति होने पर शेष आयु में इस जीवन्मुक्त का देह ही क्यों रहता है? तो उत्तर—

* चक्रभ्रमणवद्धृतशरीरः ॥ ८२ ॥ (१९३)

चक्रभ्रमण के समान शरीर को धारण किये रहता है ॥

जैसे चक्र को कुम्भकार दण्ड से एक बार बलपूर्वक घुमा देता है और फिर दण्ड को हटा भी लेता है तौ भी चक्र (चाक) बहुत देर तक घूमता ही रहता है जब तक पूर्व का बल समाप्त न हो जावे। इसी प्रकार कर्मरूप दण्ड से ईश्वर का घुमाया हुवा यह मनुष्य देहरूप चाक तब तक घूमता रहता है जब तक पूर्व प्रारब्ध कर्मों का प्रभाव शेष है। इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष को प्रारब्धकर्मफलभोगार्थ देह धारण किये रहना पड़ता है ॥ ८२ ॥

यदि कहो कि चक्र तौ पूर्व दण्ड भ्रामणाऽधीन संस्कारयुक्त होने से घूमता रहता है तौ उत्तर—

* संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ॥ ८३ ॥ (१९४)

(पूर्व) संस्कारों के लेश से ही उस (जीवन्मुक्त) के शरीरयात्रोपभोग की सिद्धि है ॥ ८३ ॥

* विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यो नेतरान्नेतरात् ॥ ८४ ॥ (१९५)

विवेक से सर्व दुःख निवृत्त होने पर कृतकृत्य (कृतार्थ=मुक्त) होता है, अन्य (साधन) से नहीं ॥

नेतरात् यह द्विरुक्ति अध्यायसमाप्तिसूचनार्थ है ॥ ८४ ॥

इति

श्री तुलसीरामस्वामिकृते सांख्यदर्शनभाषानुवादे

तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ओ३म्

अथ चतुर्थोऽध्यायः

तृतीयाध्याय में स्थूल देह, लिङ्ग देह, सृष्टि, अनेक वैराग्य के साधन, विवेक और जीवन्मुक्ति तथा केवल मुक्ति का वर्णन करके अब चतुर्थोऽध्याय में आत्मतत्त्वोपदेशादि विवेकज्ञान के साधनों में ऐतिहासिक दृष्टान्त देकर पुष्टि करते हैं। यह छोटा सा चतुर्थोऽध्याय इसी ऐतिहासिक परंपरा में है॥ तथाहि—

* राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात् ॥ १ ॥ (१९६)

तत्त्वोपदेश से राजपुत्र (रामचन्द्र जी) की नाईं (विवेक होजाता है)॥

जैसे राजा दशरथ के पुत्र श्री रामचन्द्र जी को श्रीवसिष्ठ मुनि के उपदेश से विवेक ज्ञान होगया इसी प्रकार अन्यों को भी गुरुकृत तत्त्वोपदेश से विवेक और विवेक द्वारा मुक्ति प्राप्त हो जा सकती है ॥ १ ॥

इतना ही नहीं, किन्तु-

* पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ॥ २ ॥ (१९७)

अन्यार्थ उपदेश में भी (विवेक होजाता है) जैसे पिशाच को ॥

जैसे महादेव जी पार्वती को उपदेश कररहे थे, समीप बैठा पिशाच भी ध्यानपूर्वक सुनता रहा, इस प्रकार अन्यार्थ उपदेश सुनकर पिशाच को भी विवेक ज्ञान द्वारा मुक्ति मिलगई। इसी प्रकार एक को उपदेश होते हुवे जो अन्य लोग भी ध्यानपूर्वक सुनें और तदनुकूल आचरण करें उन को भी विवेक होजा सकता है ॥ २ ॥ यदि एक वार के उपदेश से विवेक न हो तो-

* आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ ३ ॥ (१९८)

अनेक वार उपदेश से आवृत्ति (अभ्यास) करना चाहिये ॥ ३ ॥

यदि कहो कि पिता पुत्र को अनेक वार उपदेश देसकता है, न कि गुरु! तो उत्तर-

* पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥ (१९९)

पिता पुत्र के समान दोनों (गुरु शिष्यों के भी देखने से ॥

देखा जाता है कि जैसे पिता अपने पुत्र को अनेक वार उपदेश देकर समझाता है, इसी प्रकार गुरु भी शिष्य पर दया करके अनेक वार उपदेश देकर विवेकज्ञान उत्पन्न कराते हैं ॥ ४ ॥ अब विवेकी को निज विवेक की दृढ़ता के लिये क्या करना चाहिये, सो बताते हैं:—

* श्येनवत्सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ॥ ५ ॥ (२००)

त्याग और वियोग से श्येन (बाज़ पक्षी) के समान सुखी और दुःखी होता है॥

अपने आप स्वतन्त्रता से किसी विषय का छोड़ देना त्याग कहाता है, और विवश होकर उस विषय को न पा सकना वियोग कहाता है। कोई श्येन (शिखरा=बाज़ पक्षी) मांस के टुकड़े को लिये जारहा था, उस पर अन्य श्येनपक्षियों का धावा हुवा कि उस से उस मांस को छीनें। इस दशा में यदि वह श्येन स्वतन्त्रता से उस मांसखण्ड को छोड़दे तब तो सुखी होजाय, फिर कोई दूसरा श्येन उस से छीन झपट न करे, परन्तु यदि अपने आप स्वतन्त्रता से न छोड़े, किन्तु अन्य पक्षी उस से बलात् मांस छीन कर उस को मांस से वियोग करादें तो उसे बड़ा दुःख और संताप होगा कि हा! मांसखण्ड भी गया और छीन झपट की चोट लगीं वे पृथक् दुःखती हैं। इस प्रकार विचार कर विवेकी को विषयों का स्वतन्त्रता से त्याग रखना चाहिये॥ ५ ॥

अथवा—

* अहिनिर्ल्वयनीवत् ॥ ६ ॥ (२०१)

सांप और कांचली (त्वचा) के समान (जानो)॥

जैसे सांप को पकड़ कर कोई उस की कांचली उतारे तो सांप को बड़ा दुःख होगा परन्तु यदि सांप स्वयं कांचली को छोड़ देता है तो उसे दुःख नहीं होता। ऐसे ही स्वयं विषयों के त्यागी सुखी रहते हैं, परन्तु परतन्त्रता से विषयों के न मिलने वा छिनने से बड़ा दुःख होता है ॥ ६ ॥ अथवा—

* छिन्नहस्तवद्वा ॥ ७ ॥ (२०२)

छिन्नहस्त के समान (सुखी होजाता है)॥

किसी के हाथ में ऐसा फोड़ा निकला कि आराम ही न हो तो यदि

वह हाथ के लालच में रहेगा तो सदा दुःख पावेगा और यदि अपने आप प्रसन्नता से हाथ को ही दुःख का हेतु जान कर कटवा डाले तो फिर वह दुःख भोगना नहीं पड़ता । इसी प्रकार विषयों के न त्यागने में दुःख देखता हुवा पुरुष उन को अपने आप त्याग दे तो सुखी रहता है । दुःख निवृत्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

* असाधनाऽनुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥ ८ ॥ (२०३)

असाधन को साधन जानकर बारबार चिन्तन करना भरत के समान बन्धनार्थ होगा ॥

विषय वास्तव में सुखों का साधन नहीं, बस लोग इन असाधन विषयों को साधन जानकर इन की निरन्तर चिन्ता में लगे रहते हैं वे बन्धन में पड़ते हैं । जैसे राजर्षि भरत को हरिण के बच्चे की ममता और अनुचिन्तन ने बन्धन में डाल दिया था । उसे सदा हरिण का बच्चा याद आता रहता था ॥ ८ ॥

* बहुभिर्योगे विरोधोरागादिभिः
कुमारीशङ्खवत् ॥ ९ ॥ (२०४)

बहुतों के सङ्ग से विरोध होगा क्योंकि रागद्वेषादि होंगे, जैसे कुमारी के शङ्खों में ॥

विवेकी वा विवेकार्थी को एकान्त सेवन करना चाहिये । यदि वह बहुतों के समीप मिलकर रहेगा तो किसी न किसी कारण रागद्वेषादि से विरोध होगा, विरोध में दुःख होगा । जैसे एक कुमारी कई शङ्ख की चूड़ी पहन रही थी, वे चूड़ी आपस में लड़कर बोलती थीं, उसने एक चूड़ी निकालदी, तब भी लड़कर झनाझन होती ही रही, दूसरी तीसरी आदि निकालते जब एक चूड़ी रह गई तो लड़ना बन्द होगया । इसी प्रकार एकान्त सेवन से विरोध बन्द होजाता है ॥ ९ ॥

इतनाही नहीं कि बहुतों के संग से विरोध होता है किन्तु-

* द्वाभ्यामपि तथैव ॥ १० ॥ (२०५)

दो से भी वैसा ही (विरोध रहता है) ॥

इस लिये केवल एकला एकान्त सेवन करे ॥ १० ॥

* निराशः सुखी पिङ्गलावत् ॥ ११ ॥ (२०६)

पिङ्गला नाम्नी वेश्या के समान निराश पुरुष सुखी रहता है ॥

कोई पिङ्गला नाम की वेश्या थी, जो वेश्यागामी दुराचारी पुरुषों की आशा में कि कब आवें कब कुछ हाथ लगे, दुःखी चिन्तातुर बैठी थी, किन्तु जब उसने दुर्जनों के आगमन की आशा छोड़दी तो सुखिनी होगई। इसी प्रकार जो पुरुष सब प्रकार की आशाओं का त्याग करदेते हैं वे सुखी होजाते हैं ॥११॥

* अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ॥ १२ ॥ (२०७)

विना आरम्भ के भी सुखी रहता है जैसे पराये घर (बिल) में सर्प ॥

मूषकादि को बिल खोदने बनाने का दुःख भोगना पड़ता है, लोग एक बिल (भट्ट) को बन्द कर देते हैं तब दूसरा बिल (भट्ट) बनाना पड़ता है परन्तु सांप को देखो जो कभी अपना बिल नहीं खोदता, सदा जो छिद्र मिल गया वहीं घुस बैठता है, उसे घर बनाने लीपने पोतने ढाने चिनवाने का कोई दुःख नहीं। इसी प्रकार पुरुष जो वैराग्यवान् हो सांप से सीख कर कहीं घर न बनावें किन्तु एकान्त वन पर्वत गुहा आदि में प्रारब्धकर्मानुकूल जो मिल जावे उसी से निर्वाह करले तब सुखी होजाता है ॥१२॥ तथा—

* बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ॥१३॥ (२०८)

बहुत से शास्त्रों और गुरुओं की उपासना में सारमात्र का ग्रहण करे जैसे भौंरा ॥

जैसे भ्रमर अनेक पुष्पों के पास जाता है परन्तु किसी पुष्प की पंखड़ी कुतर कर तोते के समान खाता नहीं, किन्तु साररूप सुगन्धमात्र का ग्रहण करके हट जाता है, इसी प्रकार शास्त्रों और गुरुओं से अनेक शिक्षा पाता हुवा भी केवल विवेकोत्पादक सारांश मात्र का ग्रहण करे, अन्य वाद विवादों को त्यागता रहे ॥ १३ ॥

* इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ॥ १४ ॥ (२०९)

तीरगर (इषुकार) के समान एकाग्रचित्त की समाधि में हानि सम्भव नहीं ॥

कोई तीरगर तीर बना रहा था और सर्वथा अपने काम में ही चित्त लगाये था, उस के सामने को राजा की भारी सेना निकल गई तो भी उस

ने न जाना कि कौन आता वा जाता है। इसी प्रकार एकाग्रचित्त वाले पुरुष की समाधि में बाह्य खटपटें विघ्न नहीं कर सकतीं। इस लिये विवेकी वा विवेकार्थी को एकाग्रमना होना चाहिये ॥ १४ ॥

अब नियम से रहने का उपदेश करते हैं कि—

*** कृतनियमलङ्घनादानर्थक्यं लोकवत् ॥ १५ ॥ (२१०)**

धारण किये नियम के उल्लङ्घन से अनर्थ होता है जैसे लोक में ॥

जैसे लोक में रोगी लोगों को वैद्य लोग जिस प्रकार के पथ्यादि नियम का धारण कराते हैं तब यदि रोगी जिह्वालोलुप होकर पथ्यादि नियम का उल्लङ्घन करे=तोड़े, तो रोगी को अनर्थ होता है, वैसे ही विवेकार्थी पुरुष गुरूपदिष्ट ब्राह्ममुहूर्त में उत्थान स्नान शौचादि नियमों का उल्लङ्घन करेगा तो अर्थसिद्धि में बाधा पड़ कर अनर्थ होगा, इस कारण नियम से रहना चाहिये ॥ १५ ॥

*** तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ॥ १६ ॥ (२११)**

उस (नियम) के भूलने पर भी भेकी के समान (अनर्थ होता है) ॥

भेकी नाम्नी राजकन्या ने अपने पति राजा से कोई नियम कर लिया था कि इस का उल्लङ्घन करोगे तो मुझ से वियुक्त हो जावोगे, राजा ने जान कर नहीं किन्तु भूल कर वह नियम उल्लङ्घित कर दिया, इतने से भी राजा को भेकी के वियोगजनित दुःख को भोगना पड़ा। इसी प्रकार विवेकी पुरुष को भूल से भी नियम के उल्लङ्घन में अनर्थ होता है ॥ १६ ॥

*** नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥ १७ ॥ (२१२)**

उपदेश सुनने पर भी परामर्श के विना कृतकृत्यता नहीं हो सकती जैसे विरोचन को ॥

जैसे विरोचन ने गुरुमुख से ज्ञान सुना परन्तु अपने आत्मा में मनन विचार नहीं किया तो उस को किसी प्रकार की कृतकृत्यता (कामयाबी) नहीं हुई, इस लिये विवेकी को उपदेश सुन कर विचार करना चाहिये ॥ १७ ॥

*** दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ॥ १८ ॥ (२१३)**

उन दोनों में से इन्द्र को (तत्वज्ञान) देखा गया है ॥

यद्यपि इन्द्र और विरोचन दोनों शिष्यों ने एक साथ एक ही गुरु=प्रजापति से उपदेश श्रवण किया, परन्तु उन दोनो में इन्द्र ने उपदेश श्रवण करके परामर्श किया, उसे तत्वज्ञान हुवा, विरोचन ने परामर्श नहीं किया अतः उस को इन्द्र के साथ ही उन्हीं प्रजापति गुरु से उपदेश श्रवण करने पर भी तत्त्व ज्ञान न हुवा। अत एव उपदेश श्रवण करके परामर्श=मनन विचार अवश्य करना चाहिये ॥ १८ ॥

*** प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात्तद्वत् ॥ १९ ॥ (* ३१४)**

प्रणाम और ब्रह्मचर्य का धारण तथा समीप गमन करके सिद्धि होती है सो भी बहुत काल में उस (इन्द्र) के समान ॥

जैसे इन्द्र ने विधिपूर्वक गुरु प्रजापति को विनय से प्रमाण करते हुवे, ब्रह्मचर्य व्रत से रहते हुवे तथा गुरु के समीप निवास करते हुवे बहुत काल में सिद्धि पाई, वैसे ही प्रत्येक तत्त्वज्ञानार्थी विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य व्रत के धारण, गुरु को विधिपूर्वक अभिवादन, प्रणामादि करके उस की सेवा में उपस्थित रह कर बहुत काल में तत्त्वज्ञान पाने की आशा रखनी चाहिये ॥ १९ ॥ परन्तु

*** न कालनियमो वामदेववत् ॥ २० ॥ (३१५)**

वामदेव के समान काल का नियम नहीं ॥

वामदेव को पूर्वजन्मकृतपुण्यप्रताप से ऐसी प्रतिभाशालिनी मेधा बुद्धि प्राप्त थी कि अल्पकाल में ही उस को तत्त्वज्ञान हो गया। इस लिये उच्च अधिकारियों के लिये बहुत काल का नियम आवश्यक नहीं ॥ २० ॥ यदि कहो कि सामान्य जनों को विवेक ज्ञानप्राप्ति में बहुत समय क्यों लगता है? तो उत्तर-

*** अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ॥ २१ ॥ (३१६)**

अध्यस्त स्वरूप की उपासना से याज्ञिकों के समान परंपरा से (विवेक ज्ञान होता है) ॥

---

* (१९८) से आगे (९९) छप गया, (१९९) चाहिये था, वह भूल १०० की यहां तक चली आई, सो यहां से आगे ठीक करके १०० बढ़ा दिया है ॥

जिज्ञासु को प्रथम साक्षात् पुरुष के स्वरूप का ज्ञान तो होता ही नहीं, किन्तु प्रथम जिज्ञासु पुरुष गुरु के उपदिष्ट पुरुषस्वरूप पर ही विश्वास कर लेता है और जैसा उपदेश कर दिया जाता है उसी की उपासना करने लगता अर्थात् गुरुकृत उपदेश को श्रद्धा से वह मान लेता है, उस को स्वयं तो कोई ज्ञान होता ही नहीं। बस (विना जाने) केवल माने हुये स्वरूप की उपासना का नाम अध्यस्तरूपोपासना है। इस अध्यस्तस्वरूप आत्मतत्त्व की उपासना करते २ परम्परा से तत्त्वज्ञान देर में ही हो सक्ता है। जैसा कि याज्ञिक लोग यज्ञ के परलोकफल को पहले मान लेते हैं और यज्ञानुष्ठान करने भी लगते हैं तब उन को लोकान्तर में पीछे उस का फल मिलता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानार्थी वा विवेकार्थी पुरुष को प्रथम गुरु में श्रद्धा करके आत्मा मान लेना चाहिये, मान कर गुरु की उपदिष्ट रीति से नित्य २ उपासना का अभ्यास करना चाहिये, पीछे से आत्मा वैसा ही जैसा गुरु ने बताया था, मिल जाता है॥

कई लोग अध्यस्त शब्द आजाने से मिथ्या अर्थ लेकर मिथ्या मूर्तियों की उपासना का अर्थ निकालते हैं, परन्तु यहां अध्यस्त का अर्थ यही है कि केवल सुन कर माना हुवा, न कि स्वयं जाना हुवा॥ यदि मिथ्यास्वरूप का ग्रहण करें तो तद्द्वारा सत्यस्वरूप की प्राप्ति न होगी। केवल हम ही ऐसा अर्थ नहीं लेते किन्तु हम से बहुत पुराने महादेव वेदान्ती भी अपनी सांख्यसूत्रवृत्ति में यही लिखते हैं कि—

अध्यस्तस्योपदिष्टस्य रूपस्य स्वरूपस्य।

वे और भी स्पष्ट कहते हैं कि—

ध्याने दर्शनं नापेक्ष्यतेऽपि तु ज्ञानम्।

अर्थात् ध्यान में कोई वस्तु दीखने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जानने मात्र की है॥ स्वामी श्री हरिप्रसाद जी भी वैदिक वृत्ति में—

गुरुभिरुपदिष्टं रूपमध्यस्तरूपम्।

यही लिखते हैं॥ २१॥

* इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पञ्चाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः॥ २२॥ (३२०)

इतर (मोक्ष पद से भिन्न कोई अन्य उत्तम गति) मिलने पर भी पांच अग्नियों के योग से जन्म होना सुना जाता है । इस लिये आवृत्ति (पुनर्जन्म) होता है ॥

मुक्ति के अतिरिक्त अन्य सब उत्तम गतियों में गर्भवास और जन्म होता है क्योंकि उन सब उत्तम गतियों में पञ्चाग्नियों का योग होगा । वे ५ अग्नि जो जन्म लेने में पुरुष को झेलनी पड़ती हैं, जिन का संकेत विज्ञानभिक्षु आदि कई भाष्यकार और टीकाकारों ने किया है, उन पञ्चाग्नियों का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ५ खण्ड ४ से ८ तक पूरा उद्धृत करते हैं । यथा—

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति ॥ २ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षꣳ सम्भवति ॥ २ ॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

पृथिवी वाव गौतमाऽग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नꣳ सम्भवति ॥ २ ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेत-

स्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुतेरेतः सम्भवति ॥ २॥

इति सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति ॥ २ ॥

इत्यष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

१-अग्नि द्युलोक है जिस की समिधा सूर्य लोक है, किरणें धुवां है, दिन लपट है, चन्द्रमा अंगारे हैं, नक्षत्र चिनगारियां हैं ॥ १ ॥ उस इस अग्नि (द्युलोक) में देवता श्रद्धा का होम करते हैं । उस आहुति से ओषधिराज सोम उत्पन्न होता है ॥ २ ॥ (४)

२-अग्नि मेघ है, वायु उस की समिधा है, हलके बादलों की घटा धुवां है, बिजुली जो बादलों में चमकती है वह लपट है, वज्रपात अंगारे हैं, ह्रादुनि (बिजुली का भेद ही) चिनगारियें हैं ॥ उस इस अग्नि (मेघ) में देवता सोम का होम करते हैं । उस आहुति से वर्षा होती है ॥ २ ॥ (५)

३-अग्नि पृथिवी है, उस का संवत्सर समिधा है, आकाश धुवां है, रात्रि लपट है, दिशायें अंगारे हैं, अवान्तर दिशा चिनगारियें हैं ॥ १ ॥ उस इस (पृथिवीरूप) अग्नि में देवता वृष्टि का होम करते हैं, उस आहुति से अन्न उपजता है ॥ २ ॥ (६)

४-अग्नि पुरुष है, वाणी उस की समिधा है, प्राण धुवां है, जिह्वा लपट है, आंख अङ्गारे हैं, कान चिनगारियें हैं ॥ १ ॥ उस इस अग्नि (पुरुष) में देवता अन्न (खुराक=भोजन) का होम करते हैं, जिस से वीर्य उत्पन्न होता है ॥२॥ (७)

५-अग्नि स्त्री है, उपस्थ उस की समिधा है, उपमन्त्रण धुवां है, योनि लपट है, संभोग अङ्गारे हैं, आनन्द चिनगारियें हैं ॥ १ ॥ उस इस (स्त्री) अग्नि में देवता वीर्य का होम करते हैं, उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है ॥२॥ (८)

इस प्रकार क्रम से द्युलोकादि पाञ्च अग्नियों के योग से फिर जन्म हो जाता है ॥ २२ ॥

* विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ॥२३॥ (३१८)

विरक्त, त्याज्य के त्याग और ग्राह्य के ग्रहण को ऐसे करता है जैसे हंस दुग्ध को ॥

जिस प्रकार हंस, जल दुग्ध मिले रहने पर भी ग्राह्य दुग्ध का ग्रहण कर लेता है और त्याज्य जल का परित्याग कर देता है, इसी प्रकार विरक्त=वैराग्यवान् विवेकार्थी जन संसार में त्याज्यों का त्याग और ग्राह्य पदार्थों का ग्रहण करता है ॥ तथाहि गीतायाम्—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ गी० ॥६।८॥
संकल्पप्रभवान्कामान्, त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ ६ । २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्‌ बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतद्‌ आत्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६ । २९ ॥

अर्थ—ज्ञान विज्ञान से आत्मा जिस का तृप्त है, ऐसा स्थिर, जितेन्द्रिय, लोष्ट पाषाण सुवर्ण को एक सा समझ कर त्यागने वाला योगी " युक्त " कहलाता है ॥ ६ ॥ ८ ॥

संकल्प से उत्पन्न हुए समस्त कामों को निःशेष त्यागकर और मन से ही चारों ओर से इन्द्रियों को नियम में करके—(६। २४) शनैः २ हटजावे ।

आत्मा में मन को स्थिर करके, धैर्य से पकड़ी हुई बुद्धि द्वारा कुछ भी चिन्ता न करे (२५) चञ्चल अस्थिर मन जिधर २ को भागे उधर २ से इस को रोक कर आत्मा में ही वशवर्त्ती करे (२६) इस शान्तमनस्क, शान्तरजोगुण, पापरहित, ब्रह्मनिष्ठ योगी को उत्तम सुख मिलता है (२७) इस प्रकार सदा आत्मा को युक्त करता हुवा निष्पाप योगी सुगमता से ब्रह्म के स्पर्शयुक्त अत्यन्त सुख को भोगता है (स्पर्श का अर्थ यहां त्वचा का विषय नहीं है, किन्तु व्यापकता का अनुभव है, क्योंकि "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म को त्वचा का अविषय होना सिद्ध है (२८) योग में जिसने अपने को लगा दिया वह सब में समान बुद्धि (दृष्टि) रखने वाला योगी आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में साक्षात् करता है ॥२९॥

इस प्रकार के पुरुष को इस सांख्य सूत्र में " विरक्त " कहा गया है। तथा च मनु–

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च योनरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥२।९८॥

श्रवण, स्पर्श, दर्शन, भोजन और सूंघ कर जो सब इन्द्रियों के भोगों में हर्ष वा ग्लानि नहीं करता वह जितेन्द्रिय है ॥ २३ ॥

* लब्धाऽतिशययोगाद्वा तद्वत् ॥ २४ ॥ (३१९)

जिन को अतिशय=ज्ञान की परा काष्ठा मिल गई है, उन के योग=सत्संग से भी हंस के समान (त्याज्यांश का त्याग और ग्राह्यांश का ग्रहण करना संभव है)॥ जैसा कि गीता १८ वें अध्याय में कहा है कि–

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाऽधिगच्छति॥ ४९ ॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥
बुद्ध्याऽतिशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लब्धाशीर्यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

सब जगह बुद्धि को न फंसाने वाला, मन को जीतने वाला, निर्लोभ पुरुष संन्यास द्वारा निष्कर्मा होने की परमसिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥ सिद्धि को पाने वाला जिस प्रकार से ब्रह्म को प्राप्त होता है, उस प्रकार मुझ से समझो, संक्षेप से ही, जो ज्ञान की पराकाष्ठा है ॥ ५० ॥ अतिशुद्ध बुद्धि से युक्त, धृति से मन को वश में करके और शब्दादि विषयों का त्याग करके तथा राग द्वेष को दूर हटा कर ॥ ५१ ॥ एकान्तसेवी, आशीर्वाद का पाने वाला, वाणी देह और मन का संयम करने वाला, नित्य ध्यानयोग का अभ्यास करने वाला, वैराग्य का सहारा लेने वाला ॥ ५२ ॥ अहङ्कार, बल, गर्व, काम, क्रोध और संग्रह को छोड़ कर ममत्वरहित शान्त पुरुष ब्रह्म को पाने में समर्थ होता है ॥ ५३ ॥

ऐसे लब्धातिशय ज्ञानी के सत्सङ्ग से भी हंस के समान विवेक प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

*** न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् ॥ २५ ॥ (३२०)**

राग से मारे हुवे में स्वतन्त्र घूमना नहीं बनता, जैसे तोते में ॥

तोता अच्छी बोली बोल कर अन्यों से राग उत्पन्न कर लेता है, राग से नष्ट होकर पिञ्जड़े में पड़ा रहता है, स्वतन्त्र नहीं घूम सकता ॥ २५ ॥

रागी को स्वतन्त्रता न होने का कारण यह है कि—

*** गुणयोगाद्बद्धः शुकवत् ॥ २६ ॥ (३२१)**

गुणों के योग से बन्धन में पड़ता है तोते पक्षी के समान ॥ २६ ॥

*** न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥ २७ ॥ (३२२)**

भोग से राग की शान्ति नहीं होसक्ती, जैसे (सौभरि) मुनि की ॥२७॥ किन्तु—

*** दोषदर्शनादुभयोः ॥ २८ ॥ (३२३)**

दोनों (प्रकृति और उस के कार्यों) के दोषों को देखने से (राग शान्त होता है) ॥ २८ ॥

*** न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥२९॥ (३२४)**

राजा अज के समान मलिन चित्त वाले में उपदेशरूपी बीज जमता नहीं ॥ २९ ॥ और-

*** नाभासमात्रमपि दर्पणवत् ॥ ३० ॥ (३२५)**

न झलक मात्र भी (दीखती है) जैसे (मलिन) दर्पण में ॥

जैसे मलिन दर्पण में मुख की छवि नहीं दीखती, इसी प्रकार मलिन चित्त में विवेक की परछांही भी नहीं पड़ती ॥ ३० ॥

न तज्जस्याऽपि तद्रूपता पङ्कजवत् ॥ ३१ ॥ (३२६)

तदुत्पन्न में भी तद्रूपता नहीं, जैसे कमल में ॥

यह नियम नहीं होसक्ता कि गुरु के उपदिष्ट ज्ञान में भी गुरु की तुलना नहीं होसक्ती । जैसे कमल पानी में उत्पन्न होता है, परन्तु पानी का काम नहीं देसक्ता, इस लिये दूर से पत्र पुस्तकादि द्वारा बताया हुवा ज्ञान भी साक्षात् गुरु की सेवा में रह कर ज्ञानप्राप्ति के समान नहीं होसकता ॥ ३१ ॥

*** न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्य सिद्धिवदुपास्य सिद्धिवत् ॥ ३२ ॥ (३२७)**

भूति (ऐश्वर्य) के मिलने पर भी कृतकृत्यता नहीं होसक्ती जैसी कि उपास्य की सिद्धि में ॥

उपास्य (विवेक ज्ञान) की प्राप्तिरूप सिद्धि के समान कृतकृत्यता अणिमादि सिद्धियों के मिलने पर भी नहीं होसकती, क्योंकि जो संयोग एकदेशीय पदार्थों के हैं, वे सब वियोगान्त हैं, बस अणिमादि सिद्धियें भी वियोगान्त ही हैं ॥

" उपास्यसिद्धिवत् " यह द्विरुक्ति अध्यायसमाप्तिसूचनार्थ है ॥ ३२ ॥

आत्मतत्त्वोपदेशादि विवेकज्ञान के साधन इतिहासों से भूषित करके इस चतुर्थोऽध्याय में वर्णन किये गये ॥

इति

श्री तुलसीराम स्वामि-कृते सांख्यदर्शन-भाषानुवादे

चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

ओ३म्

अथ पञ्चमोध्यायः

पूर्व ४ अध्यायों में ग्रन्थकार ने अपना सिद्धान्त कहा, अब जो लोगों की शङ्कायें वा आक्षेप हैं, उन को रख कर समाधान करने के लिये पञ्चमाध्याय का आरम्भ करते हैं। प्रथम मङ्गलाचार=शुभकर्मानुष्ठान को व्यर्थ बताने वालों की शङ्का का समाधान यह है कि-

*** मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति ॥१॥ (३२८)**

शिष्टाचार से, फल देखने से और श्रुति से मङ्गल (शुभ) आचरण करना चाहिये ॥

पुरुष को शुभकर्म का आचरण करना चाहिये जिस से शिष्टों का आचरण होने से वह भी शिष्ट=भले मानसों में गिना जाय, उस की प्रतिष्ठा हो, दूसरे शुभ कर्मों का फल भी शुभ देखते हैं, तीसरे वेदों की श्रुतियें भी पुरुष को शुभाचरण की आज्ञा देती हैं। जैसे-" कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे"॥ यजुः अध्याय ४० मन्त्र २ इस मन्त्र में पुरुष को सन्ध्योपासनादि विहित शुभकर्म का अनुष्ठान करने की आज्ञा दी गई है। इसी प्रकार अन्यत्र भी-" यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि" तै० ११-२-३ जो अनिन्दित शुभ कर्म हैं उन का सेवन करना चाहिये, अशुभ वा पापों का नहीं ॥

वैशेषिकदर्शन १।१।२ में भी कहा है कि मङ्गलाचरण-धर्मानुष्ठान से अभ्युदय और मोक्ष दोनों फल मिलते हैं। यथा-" यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सधर्मः "॥ १ ॥

*** नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥२॥ (३२९)**

नहीं, (=कर्म ही फलदायक नहीं हो सकता। किन्तु) ईश्वर के अधिष्ठित (कर्म) में फल की सिद्धि हो सकती है, (और) कर्म से फल की सिद्धि हो सकती है, उस (ईश्वराधिष्ठितत्व) के सिद्ध होने से ॥

इस सूत्र में पूर्व सूत्र से " च " शब्द की अनुवृत्ति है और इस प्रकार अन्वय है कि-

(न) कर्मैव केवलं स्वतन्त्रं फलदायकं न। किन्तु (ईश्वराधिष्ठिते) कर्मणि सति (फलनिष्पत्तिः) भवति। (कर्मणा च) कर्महेतुना च फलनिष्पत्तिः (तत्सिद्धेः) ईश्वराधिष्ठितत्वस्य सिद्धेः॥

तात्पर्य यह है कि न तो केवल कर्म से फल मिल सकता है क्यों कि जड़ कर्म में व्यवस्थापकता नहीं हो सकती, न ईश्वर ही विना कर्म के फल देता है, क्योंकि न्यायविरुद्ध फलप्रद ईश्वर भी नहीं। और ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता है, यह श्रुत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है इस लिये ईश्वर के अधिष्ठाता होते हुवे कर्म करने से व्यवस्थापूर्वक फल मिलता है। यह सिद्धान्त है, जैसे राजा फल देता और प्रजा कर्म करती है॥२॥ ईश्वर के अधिष्ठाता होने की सिद्धि में हेतु देते हैं—

* स्वोपकाराधिष्ठानं लोकवत्॥ ३॥ (३३०)

अपनों के उपकार से अधिष्ठान होता है जैसे लोक में॥

योगभाष्य में व्यास देव जी ने लिखा है कि "तस्यात्मानुग्रहाऽभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्" ईश्वर को अपने ऊपर अनुग्रह नहीं किन्तु दयालु होने से प्राणियों पर दया आना ही कर्मफल देने का प्रयोजन है। जैसे लोक में दयालु राजा, प्रजा के कर्मानुसार फल देने को अधिष्ठाता होता है॥ सूत्र २।३ के अनुकूल ही न्यायदर्शन में भी कहा है। यथा—"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माऽफल्यदर्शनात् ४।१।१९ (३७०)" पुरुष जिन कर्मों के फलों को जब चाहता है तभी अपनी इच्छानुसार नहीं पाता, इस से अनुमान होता है कि पुरुषार्थ का फल पराधीन=ईश्वराधीन है॥३॥

* लौकिकेश्वरवदितरथा॥ ४॥ (३३१)

अन्यथा लौकिक राजा के समान (ईश्वर भी अपने ही प्रयोजनार्थ दया करे तो लौकिक) हो जावे॥

यदि स्वार्थ के लिये ईश्वर भी कर्मफल देकर न्याय करे तो वह लौकिक राजाओं से अधिक कुछ भी न रहे॥ ४॥

* पारिभाषिकोवा॥ ५॥ (३३२)

अथवा संज्ञामात्र है॥

अथवा यदि अपने भले के लिये ईश्वर का न्याय=कर्मफलदान हो तो

ऐसा ईश्वर निरपेक्ष पूर्णकाम नहीं होसक्ता किन्तु ईश्वर नाम धरके केवल एक नाम ही नाम हो। सर्वेश्वर सर्वाऽध्यक्ष नित्य पूर्णकाम सर्वसम्मत ईश्वर कोई भी न हो ॥ ५ ॥

शङ्का यदि ईश्वर पूर्णकाम है, उस को अपने लिये कुछ न चाहिये तौ वह अधिष्ठाता कैसे हो जाता है? उत्तर—

*** न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥ ६ ॥ (३३३)**

नहीं, राग के विना ही उस के अधिष्ठातृत्व की सिद्धि है; क्योंकि (जगत् की व्यवस्था के) प्रति नियत कारण होने से ॥

क्योंकि जगत् की व्यवस्थापूर्वक कर्मों के फल देने का नियत कारण ईश्वर स्वाभाविक है इस लिये राग के विना ही ईश्वर अधिष्ठाता है, यह सिद्ध है ॥ वेदान्तदर्शन ३ । २ । ३८ में भी कहा है कि "फलमतउपपत्तेः" उपपत्ति से सिद्ध है कि ईश्वर से फल मिलता है ॥ ६ ॥

*** तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥ (३३४)**

उस (दया रूप राग) के योग में भी नित्यमुक्त न होना नहीं ॥

एक न इस सूत्र में है, दूसरे न शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से आती है। परमेश्वर में क्लेश रूप राग नहीं, किन्तु स्वाभाविक दया रूप राग होने पर नित्यमुक्त होने में हानि नहीं हो सकती और अधिष्ठातापने की भी सिद्धि है। कोई अभूतपूर्व दया परमेश्वर में नहीं उपजती किन्तु वह दया स्वरूप ही है, अतएव अपने स्वाभाविक दया रूप स्वरूप से ही जगत् में जीवों के कर्मों के फलों की व्यवस्था करता है ॥७॥

यदि कहो कि प्रकृति के योग से ईश्वर अधिष्ठाता बन जाता है, उस के अतिरिक्त नहीं, तौ उत्तर—

*** प्रधानशक्तियोगाच्चेत्संगापत्तिः ॥ ८ ॥ (३३५)**

यदि प्रधान (प्रकृति) रूपिणी शक्ति के मेल से माने तौ संगदोष है ॥

पुरुष को पूर्व असंग कह आये हैं, यदि वह प्रकृति के संबन्ध से अधिष्ठाता कहा जावे तौ संगदोष आता है। अतः यह पक्ष ठीक नहीं ॥ ८ ॥

यदि कहो कि चेतन सत्तामात्र से अधिष्ठातृत्व है तौ उत्तर—

*** सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम् ॥ ९ ॥ (३३६)**

यदि सत्तामात्र से (कहें) तो सारे (संसार को) ईश्वर मानना पड़े ॥ ९ ॥ परन्तु—

*** प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥ १० ॥ (३३७)**

(सबों के ईश्वर होने में) प्रमाण न होने से उस (सर्वैश्वर्य) की सिद्धि नहीं ॥

सबों के ईश्वर वा अधिष्ठाता होने का प्रत्यक्ष प्रमाण कोई नहीं । इस लिये सब को ऐश्वर्य नहीं माना जा सकता ॥ १० ॥ और—

*** सम्बन्धाऽभावान्नानुमानम् ॥ ११ ॥ (३३८)**

सम्बन्ध (व्याप्ति) न होने से अनुमान भी नहीं बनता ॥

जो २ वस्तु हो वह २ ईश्वर हो ऐसी व्याप्ति नहीं पाई जाती इस से अनुमान प्रमाण भी नहीं घटता ॥ ॥ ११ ॥ तथा—

*** श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥ १२ ॥ (३३९)**

श्रुति भी प्रधान के कार्यत्व की साधिका है ॥

श्रुति भी सत्तामात्र ईश्वर को सब संसार का उपादानकारण मान कर जगत् को ईश्वर का कार्य होना नहीं कहती, किन्तु जगत् को प्रकृति का कार्य होना कहती है ॥ जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि:—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ ५ ॥

भावार्थः-अब परमात्मा जीवात्मा प्रकृति इन तीनों का वर्णन करते हैं कि-(एकाम्) एक, (सरूपाः बह्वीः, प्रजाः, सृजमानाम्) अपने सी, बहुत, प्रजा को, उत्पन्न करती हुई (लोहितशुक्लकृष्णाम्) रजः सत्त्व तमः वाली (अजाम्) अनादि प्रकृति को (एकः, अजः) एक अजन्मा जीवात्मा (जुषमाणः) सेवता हुआ (अनुशेते) लिपटा है । परन्तु (अन्यः, हि, अजः) दूसरा, अजन्मा परमात्मा (भुक्तभोगाम्) जीव से भोगी हुई (एनाम्) इस [प्रकृति] को (जहाति) नहीं लिपटता ॥

एक अजा प्रकृति, दो अज, जिन में से एक जीवात्मा है जो त्रिगुणात्मक जगत् के कारण प्रकृति से लिप्त होता है और दूसरा परमात्मा पृथक् रहता है ॥५॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥६॥

भावार्थः—उक्त विषय में ऋग्वेद अष्टक २ अध्याय ३ वर्ग १७ की ऋचा को कहते हैं कि-(द्वा) दो (सुपर्णा) पक्षी (सयुजा) साथ मिले हुवे (सखाया) मित्र से हैं और (समानम्) अपने समान (वृक्षम्) वृक्ष के (परिषस्वजाते) सब ओर से सक्त हैं (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक तो (पिप्पलम्) फल को (स्वादु) स्वादु बनाकर (अत्ति) खाता है और (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुवा (अभिचाकशीति) साक्षिमात्र है ॥

प्रकृतिरूप एक वृक्ष है । इसे वृक्ष की उपमा इस कारण दी है कि वृक्ष शब्द—छेदन अर्थ वाले "व्रश्चू" धातु से बना है । प्रकृति विकृत होती और छिन्न भिन्न होती रहती है । इस वृक्ष में दो पक्षी रहते हैं, ये परमात्मा और जीवात्मा हैं वृक्ष जड़ असमर्थ होता है और पक्षी चेतन होते हैं। दोनों आत्माओं को पक्षियों की उपमा दी गई है । वृक्ष को "समान" इस अंश में कहा है कि वह भी अनादि है । इन दोनों को सयुज् इस लिये कहा है कि व्याप्यव्यापकभाव से एक दूसरे से संयुक्त हैं। मित्र इसलिये कहा है कि मित्रों के समान चेतनत्वादि कई बातों में एक से हैं । भेद बड़ा भारी यह है कि एक वृक्ष के फल खाता अर्थात् कर्म और उन के फल भोगता है और दूसरा परमात्मा क्लेशकर्म विपाकाशयों से सर्वथा पृथक् है ॥ ६ ॥

यदि कहो कि—" तदैक्षत बहु स्याम्" इत्यादि श्रुतियों में तो ब्रह्म को ही उपादान माना है तो उत्तर यह है कि जैसे नदी का किनारा कट कर पानी में गिरने को होता है तब जैसे कहते हैं कि " कूलं पिपतिषति " कूल गिरना चाहता है । इसी प्रकार जड़ प्रकृति से भी जब जगत् उत्पन्न होने को होता है तब कहा जासकता है कि जड़ प्रकृति बहुरूप जगत् होना चाहती है । इस प्रकार जड़ प्रकृति में ईक्षण का व्यवहार असङ्गत नहीं होता ॥ अन्यथा ब्रह्म को बहुरूप होना चाहता माने तो " साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च " इत्यादि श्रुतियों से विरोध आवेगा । यही बात विज्ञानभिक्षु जी अपने सांख्यभाष्य में लिखते हैं । यथा—"प्रधान एव कूलं पिपतिषतीतिवत् गौणी " इत्यादि ॥ १२ ॥ तथा—

* नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य ॥ १३ ॥ (३४०)

निःसङ्ग को अविद्याशक्ति का योग भी नहीं हो सकता ॥ १३ ॥ और-

* तद्योगे तत्सिद्धावन्योन्याश्रयत्वम् ॥ १४ ॥ (३४१)

अविद्या के योग मानने पर उस (अविद्या) की सिद्धि में अन्योन्याश्रय दोष होगा॥

अविद्या के अवस्तु होने का वर्णन प्रथम सूत्र (२०) में कर चुके हैं, इतने पर भी अविद्या का योग मानने और अविद्या के सिद्ध (वस्तु) होने में अन्योन्याश्रय दोष होगा अर्थात् अविद्या ईश्वर के आश्रय और ईश्वर अविद्या के आश्रय होकर दोनों असिद्ध होंगे। इस लिये अविद्या सबन्ध से ईश्वर में अधिष्ठातापन मानने वाले अद्वैतियों का मत ठीक नहीं ॥१४॥ तथा-

* न बीजाङ्कुरवत्सादिसंसारश्रुतेः ॥ १५ ॥ (३४२)

संसार का आदि सुना जाता है, अतः बीज अङ्कुर के तुल्य भी नहीं कह सक्ते (कि दोनों अविद्या और ईश्वर का अनादि योग है) ॥

जो अद्वैतवादी अविद्या और ईश्वर को अनादि मान कर कहें कि अनादि पदार्थों में अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि संसार सादि है, अनादि नहीं, फिर अनादि अविद्या और ईश्वर का योग मान्य नहीं हो सक्ता। और प्रवाह से अनादि हम तो मान सक्ते हैं जो वैदिक हैं, क्योंकि हम अविद्या के विना ही ईश्वर को स्वाभाविक दयालु और न्यायकारी मानते हुवे अधिष्ठाता मानते हैं, परन्तु अद्वैतवादियों वा अविद्यावादियों वा मायावादियों के मत में अविद्या अनादि सान्त है, जब सान्त है तब अविद्या का अन्त होने पर ईश्वर की साधिन अविद्या के अभाव में संसार का भी अभाव हो जाना चाहिये, फिर प्रवाह रूप अनादिता कहां रही ॥१५॥ और-

* विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसंगः ॥१६॥ (३४३)

विद्या से अन्य पदार्थ को अविद्या मानें तो ब्रह्म का बाध प्राप्त होगा॥

यदि विद्या से भिन्न अविद्या मानो तो विद्या से भिन्न ब्रह्म भी अविद्या पदार्थ हुवा। इस दशा में ब्रह्म को अविद्यात्व प्राप्तिरूप बाधा होगी। अतएव अविद्या को सिद्ध वा वस्तु मानना ठीक नहीं ॥ १६ ॥ तथा-

अबाधे नैष्फल्यम् ॥ १७ ॥ (३४४)

यदि विद्या से (ब्रह्म का) बाध न मानें तौ निष्फलता होगी ॥

यदि कहें कि विद्या से अन्य किसी की बाधना (निवृत्ति) नहीं होगी तौ विद्या से अविद्या की भी निवृत्ति नहीं होगी, उस दशा में विद्या निष्फल है ॥१७॥

और–

* विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् ॥ १८ ॥ (३४५)

विद्या से (अविद्या का) बाध्य होना मानो तौ जगत् की भी यही दशा हो॥

यदि विद्या से बाध्य होना मानो तौ जगत् भी बाध्य हो, और विद्यावान् पुरुष ने जब विद्याबल से जगत् की बाधा (निवृत्ति) करदी, तौ अन्यों को भी जगत् न दीखना चाहिये क्योंकि निवृत्त हो गया॥ जगत् सब को दीखता है इस से निवृत्त हुवा नहीं मान सकते ॥ १८ ॥

यदि कहो कि जगत् भी अविद्या रूप ही है तौ उत्तर–

* तद्रूपत्वे सादित्वम् ॥ १९ ॥ (३४६)

अविद्यारूप होने पर सादि होना मानियेगा ?

यदि जगत् भी अविद्या रूप है, तौ जगत के समान अविद्या भी अनादि न रह कर सादि होगी जो कि अद्वैत मत में अनादि है। इस प्रकार अपना मत स्वयं खण्डित होगा ॥ १९ ॥

यदि कहो कि धर्म अधर्म अदृष्ट सिद्ध हो तौ उन के फल देने वाला ईश्वर अधिष्ठाता सिद्ध हो, परन्तु जब धर्माऽधर्म अदृष्ट ही सिद्ध नहीं, हम नहीं मानते, तब ईश्वर का अधिष्ठातृत्व कहां रहा ? तौ उत्तर–

* न धर्माऽपलापःप्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् ॥ २० ॥ (३४७)

प्रकृति के कार्यों की विचित्रता से धर्म का न मानना नहीं बनता ॥

कोई इस जगत् में सुखी, कोई दुःखी, कोई दीन दरिद्र, कोई सम्पन्न देखा जाता है, इस से यह नहीं कह सक्ते कि धर्मअधर्म आदि कर्म कुछ नहीं। इस लिये उन का व्यवस्थापक ईश्वर भी मानना होगा ॥ २० ॥

यदि कहो कि धर्माऽधर्मादि से सुखी दुःखी होने की विचित्रता नहीं, किन्तु स्वभाव से वा अकस्मात् यदृच्छा से है ? तौ उत्तर—

* श्रुतिलिङ्गादिभिस्तत्सिद्धिः ॥ २१ ॥ (३४८)

श्रुति और पहचान आदि से उस (धर्मादि के फल सुखादि) की सिद्धि है ॥

" पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन " बृहदारण्यक उपनिषद् अ० ५ ब्रा० २। १३ इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है कि पुण्य का फल उत्तम और पाप का निकृष्ट होता है, तथा चिन्ह भी पाये जाते हैं कि अच्छा करने का अच्छा फल और बुरे का बुरा, इत्यादि प्रमाणों से धर्माऽधर्म आदि को मानना ही पड़ता है, अकस्मात् सुख दुःखादि विचित्रता नहीं ॥ २१ ॥ यदि कहो कि प्रत्यक्ष के विना हम कुछ नहीं मानते तो उत्तर—

* न, नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ॥ २२ ॥ (३४९)

नहीं, अन्य प्रमाणों को अवकाश होने से नियम है ॥

यह कहना कि अच्छे का अच्छा और बुरे का बुरा ही फल होता हो यह नियम नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष में अच्छे कर्म करने वाले कभी २ दुःख पाते देखे जाते हैं, तथा कभी २ कुकर्मी भी सुख पाते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। इस का उत्तर यह है कि नहीं, प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य अनुमानादि प्रमाणों को अवकाश होने से नियम अवश्य है कि पुण्य का फल इष्ट और पाप का अनिष्ट होता है। जहां २ पुण्यवानों को दुःख और पापियों को सुख देखते हैं वहां २ उन के पूर्वजन्मार्जित पुण्य पाप ही अनुमानसिद्ध होकर सुख दुःखादि के भेद की व्यवस्था होने में हेतुता रखते हैं ॥ २२ ॥

* उभयत्राऽप्येवम् ॥ २३ ॥ (३५०)

दोनों में ऐसा ही है ॥

जो कुछ धर्मविषय में " न धर्मापलापः० " इत्यादि कहा गया है वही दोनों (धर्म अधर्म) में समझना चाहिये ॥ २३ ॥

* अर्थात्सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ॥ २४ ॥ (३५१)

यदि अर्थापत्ति से सिद्धि है तो दोनों में समान है ॥

धर्मविषय में जो हेतु सूत्र २० से २२ तक कहे, उन की अर्थापत्ति से दोनों (धर्म अधर्म) में समानता है ॥ २४ ॥

यदि कहो कि धर्माऽधर्मादि के मानने और तदनुसार पाप पुण्य से जन्मान्तर में दुःख सुख मिलना मानने से पुरुष निर्गुण कहां रहा? तो उत्तर—

* अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ॥ २५ ॥ (३५२)

धर्मादि को अन्तःकरणधर्मता है ॥

धर्माऽधर्मादि हैं सही, परन्तु पुरुष के नहीं, किन्तु पुरुष के साथी अन्तःकरण के धर्म हैं, पुरुष के स्वरूप में नहीं ॥ २५ ॥

क्यों जी ! यदि धर्मादि अन्तःकरण के धर्म हैं, पुरुष के नहीं, तो यह कहना चाहिये कि पुरुष में वे (धर्मादि) आरोपित हैं, यदि आरोपित हैं तो विवेक ज्ञान होने पर उन धर्मादि का अत्यन्त बाध होगा, क्योंकि आरोप तो विवेकज्ञान के उदय से पूर्व ही है, विवेकज्ञान होने पर आरोप नहीं रहता, तो फिर सत्कार्यवाद खण्डित होगया, कि सत् ही कार्य होता है, असत् नहीं। इस का उत्तर—

* गुणादीनां च नात्यन्तबाधः ॥ २६ ॥ (३५३)

और धर्मादि का अत्यन्त बाध नहीं हो सकता ॥

जैसे लोहे में अपनी गरमी नहीं; किन्तु अग्नि के संयोग से अग्नि की गरमी लोहे में जब भरआती है तब कहा जाता है कि लोहा गरम है, और जब गरमी निकल जाती है तब कहते हैं कि लोहा ठण्डा है, पर वास्तव में अपने स्वरूप में लोहा न ठण्डा है, न गरम है, ऐसे ही पुरुष के स्वरूप में धर्म अधर्मादि नहीं होते, किन्तु अन्तःकरण के धर्मादि पुरुष में आरोप से कहे जाते हैं, इतने से अविवेक निवृत्त होने पर धर्मादि का अत्यन्त बाध नहीं होजाता किन्तु अन्य अन्तःकरणों में उन का सद्भाव रहता है ॥

इस में कोई लोग कहेंगे कि न्याय वैशेषिकादि के मत में तो सुख दुःखादि आत्मा (पुरुष) के धर्म कहे गये हैं, यहां अन्तःकरण के धर्म बताकर विरोध आता है। उस का परिहार क्या है ? उत्तर—न्यायादि शास्त्रों में भी इच्छा द्वेष सुख दुःखादि को आत्मा के स्वरूप में नहीं माना, किन्तु आत्मा का लिङ्ग कहा है अर्थात् जहां आत्मा है, वहां वह (उस देह में) इच्छा द्वेषादि से पहचाना जाता है, जहां इच्छा द्वेषादि नहीं पाये जाते, वहां आत्मा निकलगया वा नहीं है, ऐसा समझा जाता है, जैसे जड़ भित्ति आदि में ॥२६॥

यदि कहो कि उक्त सूत्रानुसार अपने धर्मादि का ज्ञान हो भी जावे, परन्तु पराये का कैसे हो जाता है ? उत्तर—

* पञ्चाऽवयवयोगात्सुखसंवित्तिः ॥ २७ ॥ (३५४)

पांच ५ अवयवों के योग से सुख का बोध हो जाता है ॥

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन; इन ५ अवयवों से सुख और उपलक्षण से दुःखादि की उपलब्धि हो जाती है। १ सुख है। २ प्रयों में

क्रिया कर रहा है, इस हेतु से। ३ जो २ अर्थ क्रिया करता है वह २ सत् होता है, जैसे चेतन । ४ रोमहर्षादि रूप अर्थक्रियाओं को करने वाला सुख है। ५ इस से सुख सत् है। यह पांच अवयव के न्याय का प्रयोग हुवा। इसी प्रकार दुःखादि की पहचान भी हो जाती है ॥ २७ ॥

क्योंजी ! अनुमान की सिद्धि व्याप्ति की तौ सिद्धि से होती है, वह व्याप्ति सुखादि में किस प्रकार है ? उत्तर-

*** नसकृद्ग्रहणात्संबन्धसिद्धिः ॥ २८ ॥ (३५५)**

बारंवार ग्रहण से सम्बन्ध की सिद्धि होती है ॥

एक बार नहीं, किन्तु अनेक बार वा सदा ही जिस का जिस प्रकार ग्रहण होता पाया जाता है, उस से सम्बन्ध (व्याप्ति) की सिद्धि होती है। अर्थात् साध्य और साधन में बारंवार साहचर्य देखने से व्याप्ति सिद्ध होती है। जैसे अग्नि में बारंबार वा सदा ही ताप वा दाह देखा जाता है, जिस से अग्नि जहां २ होगा, वहां २ दाह भी होगा, यह व्याप्ति पाई जायगी ॥२८॥

अब व्याप्ति का स्वरूप कथन करते हैं:-

*** नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥२९॥ (३५६)**

दोनों (साध्य और साधन) वा किसी एक के नियत धर्म का साथ २ रहना=व्याप्ति कहाती है ॥

साध्य और साधन में जो धर्म नियत (सदा एक से अव्यभिचरित) साथ २ पाये जावें वा एक (साधन) में ही नियतरूप से पाये जावें, इस का नाम व्याप्ति है अर्थात् अटल=अव्यभिचारी सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं ॥

समव्याप्ति दिखाने को " उभयोः=दोनों " शब्द दिया है और विषम व्याप्ति दिखाने को " एकतर " शब्द है। कभी २ साधनमात्र का नियतधर्म सहचार होता है, कभी दोनों साध्य साधनों का ॥ २९ ॥

यदि कहो कि " नियत धर्म के साथ "=को व्याप्ति नहीं कहते किन्तु व्याप्ति अन्य तत्व है, तौ उत्तर—

*** न तत्त्वान्तरं वस्तुकल्पनाऽप्रसक्तेः ॥ ३० ॥ (३५७)**

अन्य वस्तु की कल्पना का प्रसङ्ग न होने से (व्याप्ति) कोई अन्य तत्व (वस्तु) नहीं है ॥

अर्थात् व्याप्ति जो एक धर्म है, उस के अतिरिक्त किसी एक अन्य नये धर्मी की कल्पना सङ्गत नहीं ॥ ३० ॥

यदि कहो कि किस प्रकार के " नियतधर्मसाहित्य " की विवक्षा है ? तौ उत्तर—

*** निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥ ३१ ॥ (३५८)**

निज शक्ति से उत्पन्न होने वाला (नियतधर्मसाहित्य विवक्षित है) यह कई आचार्यों का मत है ॥

कई सांख्य के आचार्य ऐसा मानते हैं कि निज (स्वाभाविक) शक्ति से जो नियत धर्म साथ२ रहे उस नियतधर्मसाहित्य को यहां व्याप्ति कहा है ॥३१॥

*** आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥३२॥ (३५९)**

पञ्चशिखाचार्य कहते हैं कि आधेयशक्ति का योग (नियतधर्मसाहित्य विवक्षित है) ॥

आधान=संकेत की विषयीभूत शक्ति को आधेयशक्ति कहते हैं अर्थात् यह व्यापक है, यह व्याप्य है, इस संकेत की विषयभूत शक्ति का योग आधेय शक्तियोग है । इसी से तात्पर्य है, ऐसा पञ्चशिख का मत है ॥ ३२ ॥

यदि कहो कि स्वरूपशक्ति ही व्याप्ति होजावो, आधेयशक्ति की क्या आवश्यकता है ? तौ उत्तर—

*** न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ॥ ३३ ॥ (३६०)**

पुनरुक्ति के प्रसंग से स्वरूपशक्ति भी व्याप्ति नहीं कहा सकती ॥

यदि वस्तु के स्वरूपभूत शक्ति को ही व्याप्ति कहें तौ जैसे घट को कलश कहना पुनरुक्तिमात्र ही है, लक्षण कुछ नहीं, इसी प्रकार स्वरूपशक्ति को व्याप्ति कहना भी पुनरुक्तिमात्र है, विशेष नहीं ॥ ३३ ॥

यदि कहो कि इस में पुनरुक्ति क्या है ? तौ उत्तर-

*** विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः ॥ ३४ ॥ (३६१)**

विशेषण की व्यर्थता के प्रसंग से (पुनरुक्तिमात्र है) ॥

जैसे स्वरूपशक्ति से देवदत्त को शक्त विशेषण देना व्यर्थ है, वा घट का विशेषण कलश कहना व्यर्थ है, क्योंकि जो अर्थ घट का है, वही कलश का,

वा जो अर्थ केवल देवदत्त शब्द का है, वही स्वरूपशक्ति वाला अर्थ शक्त विशेषण लगाने पर है, बस जैसे घट शब्द के साथ कलश विशेषण कुछ नहीं, पुनरुक्त वा व्यर्थ है, वैसे ही देवदत्त के साथ शक्त शब्द व्यर्थ है, तद्वत् स्वरूप शक्ति का पर्यायमात्र व्याप्ति शब्द भी पुनरुक्त वा व्यर्थ ही है॥३४॥ तथा-

* पल्लवादिष्वनुपपत्तेः ॥ ३५ ॥ (३६२)

पल्लवादिकों में उपपत्ति न होने से (स्वरूप शक्ति को व्याप्ति कहना ठीक नहीं) ॥

यदि स्वरूपशक्ति को व्याप्ति कहें तो वृक्ष पर लगे हुये पत्ते जैसे वृक्ष का अनुमान कराते हैं, वैसे ही उसी स्वरूप से वर्त्तमान वृक्ष से टूटे हुये पत्ते भी वृक्ष का अनुमान करावें कि "यह वृक्ष है, पल्लव वाला होने से"। परन्तु टूटे हुये पत्ते वृक्ष के सिद्ध करने में अनुमापक नहीं होते, इत्यादि से कहना पड़ेगा कि स्वरूपशक्ति को व्याप्ति मानना ठीक नहीं ॥ ३५ ॥ किन्तु-

* आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात् ॥ ३६ ॥ (३६३)

आधेयशक्ति की सिद्धि में निजशक्ति का योग भी है, समानन्याय से ॥

पञ्चशिखाचार्य का यह कथन कि आधेयशक्ति का योग=व्याप्ति है, सांख्याचार्यों के मत से कि निजशक्ति से उत्पन्न=व्याप्ति है, अविरुद्ध है। अर्थात् दोनों का तात्पर्य एक ही है क्योंकि दोनों में समान न्याय है। अर्थात् निजशक्तियोग भी आधेयशक्ति की सिद्धि में आजाता है ॥ ३६ ॥

जिस प्रकार अनुमान प्रमाण की सिद्ध्यर्थ साध्य साधन के संबन्ध=व्याप्ति का वर्णन किया, इसी प्रकार आगे शब्द प्रमाण की सिद्धि के निमित्त शब्द और अर्थ का संबन्ध निरूपण करते हैं। यथा-

* वाच्यवाचकभावः संबन्धःशब्दार्थयोः ॥ ३७ ॥ (३६४)

शब्द और अर्थ में वाच्यवाचकभाव संबन्ध है ॥

शब्द वाचक और अर्थ वाच्य कहाता है ॥ ३७ ॥

वाक्यार्थ के बोध में वाच्यवाचकभाव कारण होता है, जिसे वृत्ति भी कहते हैं, अतः आगे उसके हेतु वर्णन किये जाते हैं-

* त्रिभिः संबन्धसिद्धिः ॥ ३८ ॥ (३६५)

तीन से संबन्ध सिद्ध होता है ॥

१–आप्त पुरुषों का उपदेश, २–वृद्धों का व्यवहार और ३-प्रसिद्ध पद का समीप होना; इन तीनों से शब्द अर्थ का संबन्ध सिद्ध होता है। जैसे कोयल पिक शब्द का वाच्य है। इत्यादि वाक्यों में पिक शब्द का कोयल व्यक्ति के साथ वाच्यवाचकभाव संबन्ध है, इसी के ज्ञान को वृत्तिज्ञान भी कहते हैं। यह आप्तों के उपदेश से होता है। आप्त लोग कहते आते हैं कि कोयल व्यक्ति पिक शब्द का अर्थ है। २–वृद्धों के व्यवहार से वाच्यवाचकभाव संबन्ध जाना जाता है। जैसे गौ ले आओ। ऐसा कहने से एक बालक गौ व्यक्ति को समझ जाता है और ले आता है क्योंकि देखता है कि वृद्ध लोग गौ शब्द से गौ व्यक्ति का ग्रहण करते हैं ॥ ३-प्रसिद्ध शब्दों के साथ से वाच्यवाचकभाव संबन्ध समझ पड़ता है। जैसे–" आम के वृक्ष पर पिक बोल रहा है। " इस वाक्य में कोई पुरुष जो आम के वृक्ष को प्रसिद्धि से जानता है, बस उस के साहचर्य से जान लेता है कि पिक शब्द का वाच्य यही व्यक्ति कोयल है, जो बोल रही है ॥ ३८ ॥

यदि कहो कि यह तीन प्रकार से वाच्यवाचकभाव संबन्ध का ज्ञान केवल कार्यवाचक वाक्यों में होता है, सिद्धार्थों में तो नहीं ? तो उत्तर–

* न कार्ये नियम उभयथा दर्शनात् ॥ ३९ ॥ (३६६)

कार्य में नियम नहीं क्योंकि दोनों प्रकार से देखा जाता है ॥

यह नियम नहीं कि कार्यबोधक वाक्यों में ही उक्त तीन प्रकार से वाक्यार्थज्ञान होता हो, किन्तु कार्यबोधक वाक्यों और सिद्धार्थबोधक वाक्यों में (दोनों में) वाक्यार्थबोध होता देखते हैं। जिस प्रकार ऊपर कार्यबोधक वाक्यों में वृत्तिज्ञान के उदाहरण दिये, इसी प्रकार सिद्धार्थबोधक वाक्यों के अर्थ का ज्ञान भी होता देखते हैं। जैसे "तेरे पुत्र हुआ है" इत्यादि सिद्धार्थबोधक वाक्यों का अर्थ भी आप्तोपदेशादि से जाना जाता है ॥ ३९ ॥

* लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतेः ॥ ४० ॥ (३६७)

लोक में बोध वाले पुरुष को वेदार्थ की प्रतीति होने से ॥

लौकिक शब्दार्थ जानने वाले पुरुष को ही वैदिकशब्दार्थबोध वा वाक्यार्थबोध होता है। इस से भी जाना जाता है कि उक्त आप्तोपदेशादि ३ प्रकारों से वाक्यार्थबोध हुवा है, जिस में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध ज्ञान आवश्यक है ॥ ४० ॥ शङ्का–

* न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात् ॥ ४१ ॥ (३६८)

वेद अपौरुषेय होने और वेदार्थ के अतीन्द्रिय होने से (उक्त) तीनों (आप्तोपदेशादि) कारणों से (वेदोक्तशब्दार्थबोध) नहीं हो सक्ता ॥

लौकिक शब्दों का अर्थ तो आप्तोपदेशादि तीन कारणों से हो सक्ता है, परन्तु वेद तो अपौरुषेय हैं=वे किसी पुरुष ऋषि मुनि आदि के निज-रचित नहीं, उन का अर्थ भी इन्द्रियग्राह्य नहीं, फिर वेद के शब्दों का अर्थ आप्तोपदेशादि द्वारा कैसे जाना गया वा जाना जा सकता है? ॥ ४१ ॥

उत्तर-वेदार्थ को अतीन्द्रियता को लेकर जो पूर्व पक्ष हुवा उस का उत्तर देने के लिये अगला सूत्र कहते हैं–

* न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात् ॥ ४२ ॥ (३६९)

नहीं, यज्ञादि की विशिष्टता से स्वरूप से ही धर्मत्व है ॥

वेदार्थ के अतीन्द्रिय होने से जो प्रसिद्धपदसामीप्यसिद्ध संबन्धज्ञान में दूषण दिया गया, उस का उत्तर यह है कि उक्त दोष इस लिये नहीं आ सक्ता कि यज्ञादि के स्वर्गादि फल, जिन को अतीन्द्रिय मान कर दोष दिया गया है, साक्षात् अर्थात् लोक में ही इन्द्रियग्राह्य विशिष्ट देखे जाते हैं, यह नियम नहीं कि यज्ञादि का फल साक्षात् इस लोक में इन्द्रियग्राह्य न हो, किन्तु लोक में भी वह फल देख लिया जाता है। इस से अतीन्द्रिय नहीं कह सकें ॥ ४२ ॥ आगे अपौरुषेय मान कर दिये हुवे दोष का उत्तर देते हैं:–

* निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते ॥ ४३ ॥ (३७०)

निज शक्ति व्युत्पत्ति से विस्पष्ट की जाती है ॥

वेद पौरुषेय नहीं, अपौरुषेय हैं, यह ठीक है, परन्तु अपौरुषेय वेदवाक्यों के अर्थों को जानने के लिये भी आप्तोपदेश द्वारा संबन्धसिद्धि असम्भव नहीं, क्योंकि वेदोक्त अपौरुषेय वाक्यों का शब्दार्थसंबन्धज्ञान भी जो निजशक्तिजन्य है

अर्थात् शब्दों और अर्थों की स्वाभाविक शक्ति से सूत्र ३१ के अनुसार उत्पन्न होजाता है, व्युत्पन्न ऋषि महर्षियों की व्युत्पत्ति (बोध) से व्याख्यानिपूर्वक ज्ञात हो जाता है। इस लिये वेदों के शब्दार्थसंबन्धबोध में उन की अपौरुषेयता बाधक नहीं हो सक्ती ॥ ४३ ॥

यदि कहो कि कोई अर्थ तो योग्य=इन्द्रियों से ग्रहणयोग्य होते हैं, उन का बोध तो हो सक्ता है, परन्तु वैदिक शब्दों के अयोग्य=इन्द्रियों द्वारा न ग्रहण कर सकने योग्य आत्मा, परमात्मा, मुक्ति आदि अतीन्द्रिय अर्थों की प्रतीति कैसे हो सक्ती है ? उत्तर-

*** योग्याऽयोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात्तत्सिद्धिः ॥ ४४ ॥ (३७१)**

योग्यों और अयोग्यों में प्रतीतिजनक होने से उस (शब्दार्थसम्बन्ध) की सिद्धि हो जाती है ॥

जिस प्रकार योग्य=इन्द्रियग्राह्य अर्थों की प्रतीति को शब्दार्थसंबन्ध ज्ञान उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अयोग्य=अतीन्द्रियों की भी अनुमानादि से प्रतीति कराता है। इसी लिये व्याप्ति की सिद्धि हो जाती है ॥४४॥

तो क्या वेद स्वाभाविक नित्य है ? उत्तर-

*** न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ॥ ४५ ॥ (३७२)**

वेदों का कार्यत्व सुनने से वे नित्य नहीं ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे ॥ यजुः ३१ । ७ इत्यादि श्रुतियों से सुनते हैं कि वेद ईश्वर से उत्पन्न हुवे हैं। अतएव जैसे ईश्वरकृत सृष्टि अनादि सिद्ध नित्य नहीं, इसी प्रकार वेद भी नित्य नहीं ॥ ४५ ॥

प्र०-यदि नित्य नहीं तो पुरुषकृत होंगे ? उत्तर-

*** न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याऽभावात् ॥ ४६ ॥ (३७३)**

उन (वेदों) के कर्त्ता पुरुष के न होने से (उन को) पौरुषेयत्व नहीं बनता ॥

जिस प्रकार अन्य भारतादि के कर्त्ता पुरुष प्रसिद्ध हैं, इस प्रकार वेद भी मनुष्यप्रणीत होते तो वे भी उस पुरुषविशेष के नाम से प्रसिद्ध होते। ऐसा नहीं है, इस से वेद पौरुषेय नहीं, अपौरुषेय हैं ॥ ४६ ॥

यदि कहो कि जिस प्रकार पुराने धर्ममन्दिर नष्ट होगये, इसी प्रकार वेदकर्त्ता पुरुष का पता न लगने से भी वेदों को अपौरुषेय क्यों मान लिया जाय? यह क्यों न माना जावे कि वेद के कर्त्ता नष्ट होगये, पता नहीं लगता? उत्तर-

* मुक्ताऽमुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥ ४७ ॥ (३७४)

मुक्त और अमुक्त=बद्ध के अयोग्य होने से (पौरुषेयता नहीं बनती)॥

वेदों की रचना न तो मुक्तपुरुष कर सकते, न बद्ध। बस फिर कौन उन का कर्त्ता हो सकता है? अतः वेद अपौरुषेय ही हैं। मुक्त जीव तो मुक्तावस्था में ब्रह्मानन्द भोगता है, वह कोई काम नहीं करता, बद्ध जीवों को उतना ज्ञान नहीं कि वेदों को रच सकें, इस प्रकार बद्ध मुक्त दोनों प्रकार के जीव वेदरचना के योग्य नहीं, तब वेद को अपौरुषेय ही मान सकते हैं॥४७॥

यदि कहो कि जब वेद पुरुष ने नहीं रचे, तब उन को नित्य क्यों न माना जावे? उत्तर—

* नाऽपौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत् ॥ ४८ ॥ (३७५)

अपौरुषेय होने से नित्यता नहीं हो जाती, जैसे अङ्कुरादि की॥

जैसे अङ्कुर की उत्पत्ति मनुष्य नहीं करता, अतः अङ्कुर पौरुषेय नहीं, अपौरुषेय है, वैसे ही वेद की उत्पत्ति भी पुरुष ने नहीं की, वह भी अपौरुषेय है, परन्तु जैसे अङ्कुर अपौरुषेय होने पर भी नित्य नहीं, उत्पत्तिमान् है, वैसे ही वेद भी अपौरुषेय होने से नित्य नहीं सिद्ध होजाते, किन्तु उत्पत्तिमान् हैं और उन की उत्पत्ति भी अङ्कुरादि के समान ईश्वरकृत है, मनुष्यकृत नहीं॥ ४८॥

यदि कहो कि अङ्कुरादि भी मनुष्य के बोये होने से मनुष्यकृत ही मान लेसकते हैं? उत्तर-

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ॥४९॥ (३७६)

यदि उन (अङ्कुरादि) को भी उन (मनुष्यों) का रचा मानें तो दृष्टबाधादि दोषों की प्राप्ति होगी॥

यह देखने में नहीं आता कि अङ्कुर और पुष्पादि की रचना को पुरुष=मनुष्य करता हो, अतः दृष्टबाधादि दोषों से यह पक्ष नहीं बनता॥ ४९॥

प्र०-इस बात की क्या पहचान है कि यह कार्य मनुष्यकृत है और यह ईश्वरकृत ? उत्तर-

*** अस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम् ॥ ५० ॥ (३७७)**

जिस के न दीख पड़ने पर भी कृतबुद्धि उपजे, वह मनुष्यकृत है ॥

जिस कार्य को देखकर उस के कर्त्ता के न दीख पड़ने पर भी ऐसी बुद्धि उत्पन्न होवे कि मनुष्यकृत कार्य जैसा है, उसे मनुष्यकृत समझो। हम एक सन्दूक को देखते हैं कि वह मनुष्यकृत है, दूसरा सन्दूक ऐसा है कि उस के बनाने वाले को हम ने नहीं देखा और अन्य किसी ने भी चाहे न देखा हो, तब भी सन्दूक की बनावट से यह बोध होता है कि वह मनुष्यकृत है। परन्तु एक पुष्प को देखकर यह किसी की समझ में नहीं बैठता कि यह मनुष्यकृत है। इसी प्रकार अङ्कुरादि को जानो। वेद की अद्भुत रचना को देखकर भी, विशेष कर सृष्टि के आरम्भ काल में जब कि मनुष्यों को कोई अनुभव ऐसा भारी हो नहीं सकता था जैसा कि वेदों की रचना में विज्ञान भरा कौशल पाया जाता है, बस उन को देख कर बद्ध वा मुक्त दोनों प्रकार के जीवों में से किसी में भी उन के बनाने की योग्यता न पाई जाने से कृतबुद्धि नहीं उपजती। अतएव वे पौरुषेय नहीं ॥ ५० ॥

प्र०-तो क्या वेदों के प्रामाण्य में प्रमाणान्तर की भी अपेक्षा नहीं ? उत्तर-

*** निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् ॥ ५१ ॥ (३७८)**

अपनी स्वाभाविक निज शक्ति द्वारा प्रकट होने से स्वतःप्रमाणता है ॥

यदि वेदों के शब्दार्थसंबन्ध ग्रन्थान्तर से लिये होते तो वेद परतः प्रमाण माने जाते, परन्तु ऐसा नहीं है, वे अपने स्वाभाविक सामर्थ्य से प्रत्येक सृष्टि के समय प्रकट होते हैं, ईश्वर स्वयं उन को सब से पहले ऋषियों के हृदय में प्रकट करता है, इस लिये वे परतः प्रमाण नहीं, स्वतःसिद्धप्रमाण वा स्वतःप्रमाण हैं ॥ ५१ ॥

अब असत्ख्याति आदि मतों का खण्डन करके आगे ५६ वें सूत्र में सांख्याचार्य अपना मत कहेंगे-

*** नाऽसतः ख्यानं नृशृङ्गवत् ॥ ५२ ॥ (३७९)**

असत् की ख्याति नरशृङ्ग के समान हो नहीं सकती ॥

जैसे मनुष्य के सींग कभी प्रतीत नहीं होते, वैसे ही कोई असत् (न हुवा) पदार्थ प्रतीत नहीं होसकता। इस लिये जो लोग रस्सी में भ्रान्ति से सर्प की प्रतीति और सीपी में चांदी की प्रतीति को " असत्ख्याति " कहते हैं, वह ठीक नहीं ॥ ५२ ॥ तथा-

* न सतोबाधदर्शनात् ॥ ५३ ॥ (३८०)

सत्ख्याति भी नहीं होसकती, बाध के देखने से ॥

यथार्थ ज्ञान होने पर जब भ्रान्तिज्ञान हटजाता है, तो रस्सी में सर्प और सीपी में चांदी का बाध होजाता है, इस कारण यह भी नहीं कह सकते कि सत्ख्याति ही है और विद्यमान की ही प्रतीति होती है ॥ ५३ ॥ और-

* नाऽनिर्वचनीयस्य तदऽभावात् ॥ ५४ ॥ (३८१)

अनिर्वचनीय के अभाव से उस की भी (ख्याति) नहीं बनती ॥

यदि कहो कि सत्ख्याति, असत्ख्याति दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय की ख्याति मानलो, तो उत्तर यह है कि अनिर्वचनीय है ही नहीं, इस से उस की ख्याति भी माननीय नहीं ॥ ५४ ॥ अथ च—

* नाऽन्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात् ॥ ५५ ॥ (३८२)

" अन्यथाख्याति " भी नहीं हो सकती क्योंकि अपने वचन का व्याघात दोष है ॥

क्योंकि सत् असत् दोनों के विपरीत को "अन्यथा ख्याति" कहना होगा, इस कथन में सत् असत् के विपरीत को अनिर्वचनीय कह चुके हो, बस तुम्हारे ही मत से तुम्हारा वचन कटता है ॥ ५५ ॥

इस लिये अब सांख्याचार्य निज मत कहते हैं:-

* सदऽसत्ख्यातिर्बाधाऽबाधात् ॥ ५६ ॥ (३८३)

बाध और अबाध से सदऽसत्ख्याति (माननीय) है ॥

अर्थात् रस्सी में सर्प नहीं, परन्तु देशान्तरस्थ सर्प का संस्कार भ्रान्त पुरुष के मन में है, तभी उस को रस्सी में सर्प की ख्याति होती है। इस लिये अन्य देश में विद्यमान पदार्थ के इतर देश में अविद्यमान होने पर भी

अन्धकारादि अविवेक के कारणों से भ्रम, विपर्यय, मिथ्याज्ञान, अख्याति वा सदसत्ख्याति इत्यादि अनेक नामों वाली ख्याति उत्पन्न होती है ॥ ५६ ॥

आगे " शब्द " और उस के भेदों की परीक्षा चलाते हैं:—

* प्रतीत्यऽप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ॥५७॥ (३८४)

प्रतीति और अप्रतीतियों से ' स्फोटात्मक ' शब्द सिद्ध नहीं होता ॥

स्फोटरूप शब्द के मानने वाले कहते हैं कि जिस प्रकार हाथ पांव आदि अवयवों से भिन्न अवयवों वाला (अवयवी) अन्य है, इसी प्रकार ग्, औ इन वर्णों से भिन्न गौ शब्द पृथक् वस्तु है जो स्फोटात्मक है । इस पर यह सूत्र कहता है कि गकारादि वर्णों की प्रतीति और उस से भिन्न अन्य स्फ ट की अप्रतीति से स्फोटात्मक शब्द कोई नहीं ॥ ५७ ॥

* न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ॥ ५८ ॥ (३८५)

कार्यत्व की प्रतीति से शब्द की नित्यता नहीं ॥

शब्द, करने से उत्पन्न होता है, इस लिये कार्य है, कार्य होने से नित्य नहीं हो सकता ॥ ५८ ॥ शब्द को नित्य मानने वाला कहता है कि—

* पूर्वसिद्धसत्त्वस्याऽभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य ॥ ५९ ॥(३८६)

पहले से सिद्ध पदार्थ की अभिव्यक्ति मात्र है, जैसे दीपक से घट की ॥

जिस मकान में घड़ा है, परन्तु अन्धेरे में दीखता नहीं कि है वा नहीं, किन्तु दीपक से दीखने लगता है । इसी प्रकार शब्द भी नित्य सनातन है, परन्तु उच्चारणादि से अभिव्यक्त=प्रकट होजाता है, नया उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार शब्द को नित्य क्यों न माना जावे ? ॥ ५९ ॥ उत्तर—

* सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्सिद्धसाधनम् ॥ ६० ॥ (३८७)

यदि सत् कार्य को सिद्धान्त मानें तो सिद्धसाधन है ॥

यदि कार्य अपनी अभिव्यक्ति (प्रकटता) से पहले भी सत् (विद्यमान) है तो सिद्ध का साधन है अर्थात् इस प्रकार तो सभी कार्य अपने कारण में लीन सत् कहे जासकते हैं, शब्द की ही नित्यता क्या हुई ॥ ६० ॥

अब अद्वैतवादादि का खण्डन करते हुए पुरुष के भेदों का वर्णन आरम्भ करते हैं:—

*** नाद्वैतमात्मनोलिङ्गात्तद्भेदप्रतीतेः ॥ ६१ ॥ (३८८)**

आत्मा के लिङ्ग (चिन्ह) से उस का भेद प्रतीत होता है, इस कारण अद्वैत (केवल एक आत्मा) मानना ठीक नहीं ॥

जगत् में अनेक आत्मा हैं, एक नहीं, क्योंकि कोई सुखी, कोई दुःखी, इत्यादि भेद पाये जाते हैं ॥ ६१ ॥

*** नाऽनात्मनापि प्रत्यक्षबाधात् ॥ ६२ ॥ (३८९)**

अनात्मा (जड़) से भी (चेतन होना) नहीं मान सकते क्योंकि प्रत्यक्ष का विरोध है ॥

प्रत्यक्ष देखते हैं कि जड़ से चेतन भिन्न है, इस लिये अनात्मवाद भी ठीक नहीं ॥ ६२ ॥

*** नोभाभ्यां तेनैव ॥ ६३ ॥ (३९०)**

उसी हेतु से दोनों (आत्मा अनात्मा) से भी नहीं ॥

प्रत्यक्ष के बाध से ही दोनों से भी (एकता) नहीं पाई जाती ॥

आत्मा अनात्मा भी एक नहीं हो सकते इसी से ॥ ६३ ॥

यदि कहो कि हम को तो जड़ चेतन में भेद नहीं दीखता । एक ही वस्तु कभी जड़ और कभी चेतन जान पड़ती है ? तो उत्तर—

*** अन्यपरत्वमऽविवेकानां तत्र ॥ ६४ ॥ (३९१)**

उस में अन्य (प्रकृति) को पर (पुरुष) प्रतीत करना अविवेकियों का काम है॥

अविवेक से जड़ को चेतन वा चेतन को जड़, और प्रकृति को पुरुष वा पुरुष को प्रकृति मानने लग जाते हैं। इस लिये वह ठीक नहीं ॥ ६४ ॥

*** नात्माऽविद्या, नोभयं, जगदुपादानकारणं निःसङ्गत्वात् ॥ ६५ ॥ (३९२)**

असङ्ग होने से न तो आत्मा (पुरुष) जगत् का उपादान कारण हो सकता, न अविद्या हो सकती, न दोनों हो सकते ॥

आत्मा सङ्गरहित है, वह किसी से जुड़ा हुवा नहीं, अतः उस से कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सका । अविद्या स्वयं कोई द्रव्य नहीं उस से द्रव्यान्तर

क्या उत्पन्न होंगे ? इसी प्रकार आत्मा और अविद्या दोनों एकट्ठे भी जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकते ॥ ६५ ॥

यदि कहो कि अच्छा, पुरुष एक नहीं, अनेक रहो, प्रकृति पुरुष भी एक न सही, परन्तु पुरुष तो (जीवात्मा परमात्मा) एक हैं ? उत्तर—

* नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥ ६६ ॥ (३९३)

एक जीवात्मा (पुरुष) में आनन्दरूपता और चिद्रूपता नहीं, दोनों के भेद से ॥

"रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" तैत्ति० २ । ७ इत्यादि प्रमाणों से यह पाया जाता है कि जीवात्मा स्वयं तो चिद्रूप ही है, आनन्दस्वरूप परमात्मा को पाकर आनन्द वाला होता है, जीवात्मा को अपना स्वरूपगत आनन्द नहीं किन्तु परमात्मा का आनन्द प्राप्त होता है । इस प्रकार दोनों (जीवात्मा, परमात्मा) के भेद से दोनों को एक (आनन्दरूप और चिद्रूप) नहीं मान सकते ॥ ६६ ॥ तो फिर सुखी क्यों प्रतीत होता है ? उत्तर—

* दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥ ६७ ॥ (३९४)

दुःख की निवृत्ति से गौण (सुखी) है ॥

पुरुष को सुखी इस लिये कहते हैं कि जब उस के दुःख दूर हुवे तो वह सुखी है । परन्तु मुख्य सुखी या आनन्दी तो परमात्मा ही है, जीवात्मा गौण सुखी है ॥ ६७ ॥ यदि कहो कि मुक्ति में तो जीवात्मा भी आनन्दस्वरूप होजाता है तो उत्तर—

* विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥ ६८ ॥ (३९५)

मुक्ति की प्रशंसा (यह कि उस में जीवात्मा आनन्दस्वरूप होजाता है) मूर्खों ने की है ॥

जो लोग श्रुतिस्मृत्यादि तथा उपनिषदादि के तत्त्व को नहीं जानते वे मन्द (मूर्ख ही) कहते हैं कि मुक्ति में जीवात्मा आनन्दस्वरूप होजाता है, किन्तु विद्वान् तो यही मानते हैं कि जीवात्मा मुक्त होकर परमात्मा के आनन्दस्वरूप का अनुभव करता है, स्वयं स्वरूप से तो चिन्मात्र ही रहता है ॥ ६८ ॥ अब मन के विभु होने का खण्डन करते हैं:—

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥ ६९ ॥ (३९६)

मन व्यापक (विभु) नहीं होसकता, करण वा इन्द्रिय होने से ॥

जो करण है वा इन्द्रिय है वह कर्म से भिन्नदेशवर्ती ही होसकता है, कर्म पदार्थ में व्यापक हो तो अपूर्व क्रिया नहीं कर सकता। क्रिया की सिद्धि में साधकतम न हो तो करण नहीं कहा सकता। करण हो तो व्यापक नहीं हो सकता ॥ ६९ ॥

* सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः ॥ ७० ॥ (३९७)

सक्रिय होने और गति सुनने से ॥

मन के विभु न होने में अन्य हेतु यह है कि मन सक्रिय है, विभु होता तो ठसाठस कूटस्थ परिपूर्ण होने से क्रिया कहां को करता ? तथा-"यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति । दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" इत्यादि श्रुतियों से मन को चलने वाला (गतिमत्) सुनते हैं । इस लिये सर्वव्यापक नहीं होसकता ॥ श्रुति का अर्थ यह है कि "जो मन जागते हुये का दूर तक जाता है, वही सोते का भी वैसे ही दौड़ता है। वह दूर जाने वाला ज्योतियों में मुख्य ज्योति मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो ॥ ७० ॥ तो क्या मन अणु (निरवयव) है ? उत्तर-

* न निर्भागत्वं तद्योगाद्घटवत् ॥७१॥ (३९८)

(मन का) निर्भाग होना भी नहीं, भाग के योग से, जैसे घड़े का ॥

जैसे घट अवयवों वाला (सावयव) है, क्योंकि वह अपने भागों से जुड़ कर बना है, वैसे ही मन भी सावयव है, निरवयव नहीं। अर्थात् मध्यम परिमाण वाला मन है ॥ ७१ ॥ तो फिर मन नित्य कैसे है ? उत्तर-

* प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम् ॥ ७२ ॥ (३९९)

प्रकृति और पुरुष से अन्य सब अनित्य है ॥

अर्थात् नित्य केवल दो ही पदार्थ हैं-१-प्रकृति और २-पुरुष (जीवात्मा परमात्मा) । अन्य मन आदि कोई पदार्थ नित्य नहीं ॥ ७२ ॥

क्यों जी ! ईश्वर परमात्मा पुरुष के भाग (अवयव) न हों, परन्तु भोगी पुरुष (जीवात्मा) तो सावयव होगा ? उत्तर—

* न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ॥७३॥ (४००)

भोगी (पुरुष=जीवात्मा) के निर्भागत्व (निरवयव होना) श्रवण से भागलाभ नहीं ॥

दो पुरुष १—जीवात्मा २—परमात्मा में एक जीवात्मा भोक्ता (भोगी) है, दूसरा परमात्मा भोगरहित है। इन दोनों में से भोगी (जीवात्मा) भी भाग (अवयव) वाला नहीं, निरवयव अणु सूक्ष्म है ॥ " अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः " कठ १। २। १८ " अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णामजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते " श्वेताश्वतर ४। ५ में उस को नित्य अज कहा है जिससे वह संयोगजन्य नहीं, अतः उस में भाग (अवयव) नहीं बन सकते ॥७३॥

प्रश्न—जीवात्मा को आनन्दस्वरूप ही माना जावे, किन्तु संसारावस्था में आनन्द तिरोभूत (छिपा) माने और मुक्ति में अभिव्यक्त (प्रकट), तो क्या हानि है ? उत्तर—

*** नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् ॥ ७४ ॥ (४०१)**

आनन्द का प्रकट होजाना मुक्ति नहीं, क्योंकि (आत्मा=पुरुष) का वह धर्म नहीं ॥

जीवात्मा स्वरूप से आनन्दधर्मी नहीं, इस लिये आनन्द का आविर्भाव ही मुक्ति नहीं कहाती, किन्तु परमात्मा के आनन्द का अनुभव करना मुक्ति है ॥७४॥

*** न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ॥ ७५ ॥ (४०२)**

इसी प्रकार विशेष गुणों का उच्छिन्न होजाना भी (मुक्ति) नहीं कहाता ॥

जैसे जीवात्मा में स्वाभाविक न होने से आनन्द का प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं, वैसे ही जीवात्मा के स्वाभाविक दुःखादि गुणों के उच्छेद को भी मुक्ति नहीं कहते, क्योंकि वह स्वाभाविक विशेष (दुःखादि) गुणों वाला भी नहीं है ॥ ७५ ॥ और—

*** न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ॥ ७६ ॥ (४०३)**

निष्क्रिय जीवात्मा की विशेष गति भी (मुक्ति) नहीं ॥

जीवात्मा स्वरूप से क्रियावान् नहीं है, किन्तु प्रकृतिसङ्ग से है, और मुक्ति में प्रकृतिसङ्ग छूट जाता है, तब जीवात्मा गतिमान् भी स्वभाव से नहीं कि निरन्तर ऊर्ध्वगति ही का नाम मुक्ति हो सके ॥ ७६ ॥

*** नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥७७॥ (४०४)**

आकार के उपराग का उच्छिन्न होना भी मुक्ति नहीं, क्षणिकत्वादि दोष से ॥

जीवात्मा पर आकार का जो उपराग (ढकना) है, जोक्षणिक विज्ञान-

वादियों का मत है, उस ढकने का उच्छेद भी वैदिकों की मुक्ति नहीं कहाता, क्योंकि वैदिक लोग पुरुष को क्षणिक विज्ञान नहीं मानते। इस कहने का सार यह है कि जो दोष क्षणिक विज्ञानवाद में हैं वही उस मत की मुक्ति में हैं ॥७७॥

* न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥ ७८ ॥ (४०५)

सर्वनाश का नाम भी (मुक्ति) नहीं, क्योंकि अपुरुषार्थत्वादि दोष आता है॥

प्रथम सूत्र में त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को अत्यन्त पुरुषार्थ कह आये हैं, यदि सर्वनाश का नाम मुक्ति रक्खें तो पुरुषार्थत्व आदि न रहेंगे क्योंकि सर्वनाश में पुरुष का नाश भी हो जावे, तो मुक्ति पुरुषार्थ कहां रही? ॥७८॥

* एवं शून्यमपि ॥ ७९ ॥ (४०६)

इसी प्रकार शून्य भी (मुक्ति) नहीं ॥

शून्यवादी जो शून्य को ही मुक्ति मानते हैं, वह भी पुरुषार्थ न होने से मुक्ति नहीं कहा सकती क्योंकि शून्य होने पर पुरुष ही न रहे तब पुरुषार्थ क्या रह जावेगा? ॥ ७९ ॥

* संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि ॥ ॥ ८० ॥ (४०७)

सब संयोग वियोगान्त हैं इसलिये किसी देशादि का लाभ भी (मुक्ति) नहीं॥

स्थान विशेष वा देशविशेष वैकुण्ठादि, वा धन विशेष, वा स्त्री पुत्रादि विशेष का लाभ भी मुक्ति नहीं, क्योंकि ये पदार्थ संयोगी हैं और प्रत्येक संयुक्त पदार्थ एकरस नहीं, नाशवान् अर्थात् प्रतिक्षण नाशोन्मुख दौड़ रहा है, इस लिये नाशवान् देश धन स्त्री आदि की प्राप्ति का नाम मुक्ति नहीं हो सक्ता ॥८०॥

* न भागियोगोभागस्य ॥ ८१ ॥ (४०८)

भाग का भागी में मिल जाना भी (मुक्ति) नहीं ॥

जो लोग जीवात्मा को ईश्वर का भाग (अंश) मानते हैं, उन के खण्डनार्थ यह सूत्र कहता है कि अंश अंशी में मिल जावे, इस का नाम मुक्ति इस लिये नहीं हो सक्ता कि (पूर्वसूत्र से "संयोगाश्च वियोगान्ताः" की अनुवृत्ति करके) ऐसा मानने से तो ईश्वर में भी संयोग वियोग हुवे, तो वही नश्वर हुवा, फिर तत्संयोग से मुक्ति क्या होगी? ॥ ८१ ॥

* नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात्त-
दुच्छित्ते रितरयोगवत् ॥ ८२ ॥ (४०९)

अन्य संयोगों के समान अणिमादि (सिद्धियों) का संयोग भी अवश्य (नष्ट) होने वाला है इस लिये वह भी (मुक्ति) नहीं कहाता ॥

अणिमादि सिद्धियों के मिलने का नाम मुक्ति इस लिये नहीं बनता कि जैसे अन्य संयोगों का अवश्य वियोग नाश उच्छेद होता है, वैसे अणिमादि सिद्धि भी नाश वाली हैं ॥ ८२ ॥

* नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत् ॥ ८३ ॥ (४१०)

इसी प्रकार इन्द्रादि पदवी का मिलना भी (मुक्ति) नहीं ॥

जिस प्रकार अणिमादि सिद्धियें अवश्य नाश वाली हैं, इसी प्रकार इन्द्रादि पदवी भी शीघ्र नष्ट होने वाली हैं, अतः उन की प्राप्ति का नाम मुक्ति नहीं हो सकता ॥ ८३ ॥

प्र० मुक्ति विषय में अन्यों का खण्डन करके सांख्याचार्य ने अपना मत क्यों नहीं दर्शाया ? उत्तर—सांख्याचार्य तृतीयाध्याय के अन्तिम सूत्र ८४ में अपना मत कह आये हैं कि—

" विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्योनेतरान्नेतरात " ३ । ८४ (१९५) देखो पृष्ठ ११५ और आगे षष्ठाऽध्याय के ५ से ९ तक सूत्रों में भी कहेंगे। सांख्य का मत वेदानुकूल यह है कि विवेक से मुक्ति होती है और उस में— " आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन " तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली २ अनुवाक ४ और " सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म योवेद निहितं गुहायाम् परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" इति । तैत्ति० २ । १ इत्यादि उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म के आनन्द को मुक्त जीवात्मा प्राप्त होता है, उसी का अनुभव करता है, उस की सब कामना पूर्ण होजाती हैं ॥

अब इन्द्रियों की भौतिकता का खण्डन करते हैं कि—

* न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारित्वश्रुतेः ॥८४॥(४११)

इन्द्रियों की प्रकृति (कारण) ५ भूत नहीं हैं। क्योंकि (इन्द्रियों को) अहंकार का कार्य होना सुनते हैं ॥

यही बात पूर्व २। २० (१८४) सूत्र में कह आये हैं कि "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च" मुण्डकोपनिषद् २। १। ३ के श्रुति प्रमाण से इन्द्रियां अहंकार का कार्य हैं, परन्तु न्याय में तो भूतों का कार्य इन्द्रियां बताई हैं। यथा—

"घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः १। १। १२॥" तब क्या न्याय का मत श्रुतिविरुद्ध है? उत्तर—नहीं क्योंकि पदार्थों की संख्या वा विभाग सब शास्त्रों में एकसा ही नहीं है। न्याय में प्रथम १६ पदार्थ प्रमाणादि बता कर उन १६ में से दूसरे प्रमेय के १२ भेद ये कहे हैं कि- "आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धि० १। १९॥"

१ आत्मा, २ शरीर, ३ इन्द्रिय, ४ अर्थ (विषय), ५ बुद्धि, ६ मनस् ७प्रवृत्ति, ८ दोष, ९ प्रेत्यभाव, १० फल, ११ दुःख और १२ मोक्ष। परन्तु इस में यह नहीं कहा कि ये १२ वा १६ द्रव्य हैं, वा गुण, कर्म हैं। इस व्यवस्था को वैशेषिक ने ठीक किया है और ६ पदार्थ विभाग करके माने हैं। तब क्या वैशेषिक से न्याय का कोई विरोध होगया? कुछ नहीं। संसार के पदार्थों को कोई कैसे गिनता है, कोई कैसे, कोई कुछ संज्ञा रखता है, कोई कुछ, ये बातें विरोध की नहीं। इस प्रकार विचार से ज्ञात होगा कि जिस जगत् के उपादान की सांख्य शास्त्र ने एक प्रकृति संज्ञा की है, उसी की न्यायदर्शनकार ने कारण द्रव्य मानकर पञ्चभूत संज्ञा रक्खी है। तब न्याय का भूतों से इन्द्रियोत्पत्ति मानना अपने मत के उपादान कारणरूप पञ्चतत्त्व (जिन को सांख्य में सत्वादि की साम्यावस्था कहकर प्रकृति माना है) के अभिप्राय से है, न कि सांख्याभिमत प्रकृति के चौथे कार्य पञ्च स्थूल भूतों से, और मैं समझता हूं कि इसी कारण सांख्यदर्शन के प्रणेता ने बुद्धिमानी की है जो सूत्र १। ६१ में स्थूलाभूतानि कहते हुवे कार्यरूप पञ्चभूत बताने को ही स्थूल शब्द विशेषणार्थ रख दिया है कि कोई न्याय के कारण द्रव्य पञ्च सूक्ष्म भूतों का अर्थ न समझले। बस जब व्यवस्थाभेद है और न्याय में कारणभूतों का कार्य इन्द्रियें बताई गई हैं, और सांख्य में कार्य (स्थूल) पञ्चभूत गिनाये हैं तब सांख्यकार ने-

"अहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि २। २०"

में इन्द्रियों के भौतिकत्व का जो खण्डन किया है वह अपने मत के

स्थूल भूतों का कार्य न मानते हुवे किया है, न कि न्यायाऽभिमत कारण वा सूक्ष्मपञ्चभूतों के कार्यत्व का। अतएव परस्पर न्याय सांख्य में इस अंश में विरोध नहीं ॥ ८४ ॥

क्यों जी! न्याय वैशेषिक के समान छः ६ वा सोलह १६ पदार्थों के बोध से मुक्ति होना आप (सांख्याचार्य कपिल) क्यों नहीं मानते ? उत्तर—

* न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ॥ ८५ ॥ (४१२)

छः पदार्थ का नियम नहीं, (अतः) उन के बोध से मुक्ति (भी हमने) नहीं कही ॥

वैशेषिकादि जिन्हों ने वस्तुमात्र को प्रथम १ द्रव्य २ गुण ३ कर्म ४ सामान्य ५ विशेष ६ समवाय; इन छः पदार्थों में अन्तर्गत किया और फिर छः में से पहले एक द्रव्य के नौ ९ विभाग किये (१ पृथिवी २ अप् ३ तेज ४ वायु ५ आकाश ६ काल ७ दिशा ८ आत्मा और ९ मन) उन की परिभाषा के अनुसार (हमारे प्रकृति पुरुष का विवेक) छः पदार्थ और उन के अवान्तर भेद ९ द्रव्यादि के तत्त्वज्ञान से होता है, सो ठीक हो, परन्तु हमने वस्तुमात्र को दो शब्दार्थों (१ प्रकृति २ पुरुष) में अन्तर्गत माना है, छः का नियम नहीं किया, इस लिये हम षट्पदार्थबोध से मुक्ति भी नहीं कहते ॥ ८५ ॥ तथा—

* षोडशादिष्वप्येवम् ॥ ८६ ॥ (४१३)

षोडश १६ आदि (पदार्थमत) में भी ऐसा ही (जानो) ॥

न्याय में १ प्रमाण २ प्रमेय ३ संशय ४ प्रयोजन ५ दृष्टान्त ६ सिद्धान्त ७ अवयव ८ तर्क ९ निर्णय १० वाद ११ जल्प १२ वितण्डा १३ हेत्वाभास १४ छल १५ जाति और १६ निग्रहस्थान; इन १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति कही है, परन्तु हम (सांख्य) ने केवल दो (प्रकृति पुरुष) संकेत रक्खे हैं, इस लिये हम उन्हीं के विवेक से मुक्ति कहते हैं, षोडशादि से नहीं ॥ ८६ ॥

* नाऽणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः ॥ ८७ ॥ (४१४)

अणु नित्य नहीं हो सकते क्योंकि उन का कार्य होना सुनते हैं ॥

अणु शब्द से यहां निरवयव न्यायशास्त्रोक्त परमाणु की नित्यता का खण्डन नहीं है किन्तु त्रसरेणु की नित्यता का निषेध कहा है। जैसा कि सांख्याचार्य अगले ही सूत्र में अणु को सावयव मानते हैं ॥ ८७ ॥ यथा—

* न निर्भागत्वं कार्यत्वात् ॥ ८८ ॥ (४१५)

कार्य होने से (अणु=त्रसरेणु) निरवयव भी नहीं हैं ॥

पूर्व सूत्र में त्रसरेणु की नित्यता न मानने में जो श्रुति को हेतु बताया है, वह श्रुति साक्षात् कहीं मिलती नहीं, इस बात को मान कर विज्ञानभिक्षु जी ने भी श्रुति शब्द से वेदश्रुति वा उपनिषद् की श्रुति न पाकर कहा है कि-

यद्यप्यस्माभिः सा श्रुतिर्न दृश्यते काललुप्तत्वादिना, तथाप्याचार्यवाक्यान्मनुस्मरणाच्चानुमेया । यथा मनुः-
अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां च याः स्मृताः ।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ (मनुः १।२७)

अर्थात् यद्यपि हम को कोई वैसी श्रुति नहीं दीखती, काल के हेर फेर से लुप्त होना इत्यादि हेतुओं से। तथापि आचार्य के वाक्य और मनु के स्मरण से हम को अनुमान करना चाहिये, जैसा कि मनु कहते हैं कि " सूक्ष्म जो (अणु से अयवी) दश की आधी (५) तन्मात्रा विनाशिनी हैं, उन सहित यह सब :जगत् क्रम से उत्पन्न होता है "। सांख्यार्यभाष्य और सांख्यसूत्रवैदिक वृत्ति में भी यहां अणु शब्द से त्रसरेणु का ही ग्रहण किया है, परमाणु का नहीं ॥ ८८ ॥

यदि कहो कि त्रसरेणु यदि सावयव और कार्य हैं तो प्रत्यक्ष उन का रूप क्यों नहीं दीखता ? उत्तर–

* न रूपनिबन्धनात्प्रत्यक्षनियमः ॥ ८९ ॥ (४१६)

रूप के निबन्धन से प्रत्यक्ष का नियम नहीं ॥

यह नियम नहीं है कि रूपवान् पदार्थ का ही प्रत्यक्ष हो, किन्तु अन्य धर्मवान् पदार्थों का भी प्रत्यक्ष होता है ॥ ८९ ॥

अब पदार्थों की स्थूल सूक्ष्मता में अपने अभिमत भेद कथन करते हैं:-

* न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् ॥९०॥ (४१७)

परिमाण ४ चार प्रकार के होने आवश्यक नहीं, क्योंकि २ दो प्रकारों से ही निर्वाह हो जाता है ॥

कोई लोग जो परिमाण (माप) को चार ४ प्रकार का मानते हैं १—अणु २ महत् ३ दीर्घ ४ ह्रस्व, सो ठीक नहीं, क्योंकि केवल १ अणु और २ महत् इतने ही में सब परिमाण अन्तर्गत हो सकते हैं ॥ ९० ॥

यदि कहो कि जब तुम्हारे मत में प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त त्रसरेणु आदि सभी पदार्थ अनित्य हैं तो किसी की पहचान (प्रत्यभिज्ञा) कि "यह वही है" कैसे होगी ? क्योंकि कोई पदार्थ नित्य नहीं तब आज से कल को यह पहचाना कैसे जाता है कि यह वही कल देखा हुआ पदार्थ है ? उत्तर—

* अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ॥ ९१ ॥ (४१८)

अनित्य होने पर भी स्थिरता के योग से सामान्य की पहचान होती है ॥

जो पदार्थ अनित्य हैं, वे भी जितने काल तक स्थिर रहते हैं, पहली समानता से पहचाने जाते हैं ॥ ९१ ॥

* न तदपलापस्तस्मात् ॥ ९२ ॥ (४१९)

उस (समानता) का अपलाप (झुठलाना) नहीं हो सकता, क्योंकि उस (समानता) से (पहचान होती है) ॥

यदि किसी अनित्य पदार्थ में आज से कल तक कोई समानता न रहती तो कोई पदार्थ पहचाना न जाता । जो लोटा वा घट पट हमने आज देखा है, वह बहुत अंशों में कल तक स्थिर एकसा (समान) रहता है, इसी से तो पहचाना जाता है कि यह वही लोटा वा घट वा पट है जो कल देखा था । पहचानना (प्रत्यभिज्ञा) ही स्थिरता और समानता की सिद्धि में हेतु है ॥ ९२ ॥

यदि कहो कि आज के देखे घट को कल पहचान सकना सामान्य की स्थिरता से नहीं, किन्तु अन्य पटादि से भेद (अन्यत्व) के कारण पहचान हो जाती है तो उत्तर—

* नाऽन्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः ॥ ९३ ॥ (४२०)

अन्य की निवृत्ति ही (सामान्य का) रूप नहीं, भाव की प्रतीति से ॥

एक घट जिस को कल देखा था और आज प्रत्यभिज्ञा (पहचान) होती है कि यह वही घट है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा इतने से नहीं हो सकती कि वह (घट), अन्य पट आदि पदार्थों से विलक्षण है। क्योंकि पटादि से भिन्न रूप के तो अन्य घट भी हैं, परन्तु यह "पहचान" कि यह वही कल वाला घट है, तभी हो सकती है, जब कि कल से आज तक घट विशेष में कोई समानता बनी रहती हो, कुछ काल तक स्थिर हो। इस लिये कल के देखे घट को आज पहचानने (प्रत्यभिज्ञात करने) में समानता ही हेतु है, अन्य (पटादि) पदार्थों से भिन्नरूपता हेतु नहीं ॥ ९३ ॥

यदि कहो कि सदृश होने से " पहचान " हो जाती होगी, समानता स्थिर नहीं है ? तो उत्तर—

* न तत्त्वान्तरं सादृश्यं, प्रत्यक्षोपलब्धेः ॥ ९४ ॥ (४२१)

(सामान्य से) सादृश्य कोई अन्य तत्त्व (वस्तु) नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष उपलब्ध है ॥

प्रत्यक्ष एक घट जो कल देखा था; ठीक वही, घट आज देखता हूं। ऐसी उपलब्धि होने से यह नहीं कह सकते कि कल के घट के सदृश दूसरा घट है, किन्तु वही घट प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, इस लिये सादृश्य कोई और बात नहीं, किन्तु सामान्य ही सादृश्य है ॥ ९४ ॥

यदि कहो कि सामान्य और सादृश्य एक बात कैसे हो सकती है? सादृश्य में तो सापेक्षता होती है ? तो उत्तर—

* निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात्तदुपलब्धेः ॥ ९५ ॥ (४२२)

अथवा स्वाभाविक शक्ति की अभिव्यक्ति को (सादृश्य कहते हैं) क्योंकि असाधारणता से उस (सादृश्य) की उपलब्धि होती है ॥

विशिष्टता (ख़ुसूसियत) से सादृश्य की प्रतीति वा उपलब्धि होती है, इस कारण (वा शब्द से) दूसरा पक्ष यह भी ठीक है कि सदृशपन अपनी स्वाभाविक शक्ति का अभिव्यक्त होना ही है अर्थात् उन २ पदार्थ में स्थित उस २ प्रकार का जो शक्तिभेद है, वह सर्वत्र सादृश्य की प्रतीति का विषय है, न कि कोई अन्य वस्तु (तत्त्व) ॥ ९५ ॥ और—

*** न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि ॥ ९६ ॥ (४२३)**

संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध भी (सादृश्य) नहीं है ॥

घट पट मनुष्य पशु पक्षी आदि शब्दों का नाम संज्ञा है और घट पटादि शब्दों से जिन वस्तुओं का ग्रहण किया जाता है, वे संज्ञी हैं, उन दोनों के सम्बन्ध को भी सादृश्य नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा का विषय सामान्य वा सादृश्य है, न कि संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध। हम देखते हैं कि एक घट वस्तु की जैसे घट संज्ञा है वैसे ही दूसरे घट वस्तु की भी है, परन्तु "यह वही घट है" इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) संज्ञासंज्ञिसम्बन्धमात्र से नहीं होती ॥९६॥

यदि कहो कि शब्द और अर्थ में तो नित्य सम्बन्ध है, तब संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध (शब्दार्थसम्बन्ध) को मानकर प्रत्यभिज्ञा क्यों नहीं हो सकती? तो उत्तर—

*** न संबन्धनित्यतोभयाऽनित्यत्वात् ॥ ९७ ॥ (४२४)**

उभय (संज्ञा=घटादि शब्द और संज्ञी=घटादि वस्तु) इन दोनों के अनित्य होने से संबन्ध भी नित्य नहीं हो सकता ॥ ९७ ॥

उसी बात को और स्पष्ट करते हैं—

*** नाऽजः संबन्धोधर्मिग्राहकमानबाधात् ॥ ९८ ॥ (४२५)**

संबन्ध अज (अनादि वा नित्य) नहीं है, धर्मी के ग्राहक प्रमाण के न होने (बाध) से ॥

क्योंकि धर्मी=संज्ञी वस्तु के ग्राहक होने में कोई प्रमाण नहीं है। जब चाहें तब जिस पदार्थ की जो चाहें सो संज्ञा रख सकते हैं, तब शब्दअर्थ में (संज्ञा संज्ञी में) नित्य संबन्ध कहां रहा? ॥ ९८ ॥

यदि कहो कि न्यायादि शास्त्रों में जो समवाय सबन्ध माना है, वही तो नित्य संबन्ध है। आप क्यों नहीं मानते? तो उत्तर—

*** न समवायोऽस्ति प्रमाणाऽभावात् ॥ ९९ ॥ (४२६)**

प्रमाणाऽभाव से (हमारे मत में) समवाय संबन्ध ही नहीं है ॥

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय; ये छः पदार्थ ही हम ने अपने सांख्य में इस प्रकार विभक्त नहीं किये जैसे वैशेषिक में हैं, तब हमारे यहां उस को नित्यत्व कथन करने में कोई प्रमाण नहीं है ॥ ९९ ॥

यदि कहो कि प्रमाण क्यों नहीं है? प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण तो हैं, तो उत्तर-

* उभयत्राऽन्यथासिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुमानं वा ॥१००॥ (४२७)

प्रत्यक्ष और अनुमान (प्रमाण) इस लिये नहीं हो सकते कि दोनों में अन्यथा (समवाय के विना ही) सिद्धि है ॥

हमारे मत में स्वरूपसंबन्ध से ही काम चल जाता है, इस लिये प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से भी समवायसंबन्ध मानना आवश्यक वा अपेक्षित नहीं॥

बात यह है कि जिस संबन्ध को न्याय वैशेषिक में समवाय संबन्ध कहते हैं, उसी को वेदान्त दर्शन में तादात्म्य संबन्ध कहते हैं और उसी को योग और सांख्य में स्वरूपसंबन्ध कहते हैं, कोई विरोध नहीं है, केवल परिभाषा भेदमात्र है ॥ १०० ॥

अब इस मत का खण्डन करते हैं कि क्रिया सर्वथा अनुमेय है:—

* नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरेवाऽपरोक्षप्रतीतेः ॥ १०१ ॥ (४२८)

क्रिया को केवल अनुमेय (अनुमानगम्य) ही न मानना चाहिये क्योंकि अतिसमीपस्थ (पुरुष आदि चलने वाले) की क्रिया और क्रियावान् में अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) प्रतीति होती है ॥

जब कोई हमारे पास ही चलता है तो हम चलना क्रिया और चलने वाले देवदत्तादि को प्रत्यक्ष देखते हैं। इस लिये जो लोग क्रिया को प्रत्यक्ष न मान कर केवल अनुमेय मानते हैं, वह ठीक नहीं ॥ १०१ ॥

जो लोग समान प्रधानता वाले पांच भूतों से देह की उत्पत्ति मानते हैं, उन का खण्डन-

* न पाञ्चभौतिकं शरीरं, बहूनामुपादानाऽयोगात् ॥ १०२ ॥ (४२९)

शरीर पाञ्चभौतिक नहीं हो सकता, क्योंकि (एक कार्य के) बहुत उपादान कारण होने युक्त नहीं ॥

लोग कहेंगे कि सांख्यकार यह क्या कहने लगे; स्थूल शरीर तो पाञ्चभौतिक है ही। परन्तु जानना चाहिये कि समप्रधान ५ भूतों से शरीरोत्पत्ति का निषेध करते हैं। विषमों (पञ्चभूतों) से उत्पत्ति मानना इन को अनिष्ट नहीं ॥१०२॥

* न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि
विद्यमानत्वात् ॥ १०३ ॥ (४३०)

सूक्ष्म शरीर के विद्यमान होने से यह नियम नहीं कि स्थूल ही शरीर है ॥

एक स्थूल देह से दूसरे स्थूल देह तक ले जाने वाले=आतिवाहिक=सूक्ष्म शरीर के विद्यमान होने से यह नियम ठीक नहीं कि स्थूल ही एक शरीर है, जो पाञ्चभौतिक है, किन्तु सूक्ष्म शरीर भी तौ शरीर ही है जो स्थूल पञ्च-महाभूतों से नहीं, किन्तु सूक्ष्म १७ तत्वों से बनता है ॥ १०३ ॥

* नाऽप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणा-
मप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा ॥ १०४ ॥ (४३१)

इन्द्रियों को अप्राप्तप्रकाशकत्व नहीं है। क्योंकि प्राप्ति का अभाव है, अथवा सब की प्राप्ति हो (सो भी नहीं) ॥

इन्द्रियें अप्राप्त (असंबद्ध) पदार्थ का प्रकाश करने वाली नहीं हैं, किन्तु जो २ पदार्थ उन इन्द्रियों को प्राप्त (विषयीभूत=संबद्ध) होते हैं, केवल उन्हीं का प्रकाश (ज्ञान=बोध) कराती हैं। क्योंकि देखा जाता है कि अप्राप्त पदार्थों को इन्द्रियां बोधित नहीं करतीं। अथवा यों कहिये कि यदि अप्राप्त प्रकाशक होतीं तौ उन इन्द्रियों से सब की प्राप्ति (उपलब्धि=ज्ञान=बोध) होजाती, तब तौ जीव इन्द्रियों के साहचर्य से सर्वज्ञ होजाता। किन्तु ऐसा है नहीं, इसलिये इन्द्रियां अप्राप्तप्रकाशक नहीं हैं ॥ १०४ ॥

* न तेजोऽपसर्पणात्तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः ॥१०५॥ (४३२)

तेज पर दौड़ने से आंख इन्द्रिय को तैजस नहीं कह सकते क्योंकि वृत्ति से उस की सिद्धि है ॥

यदि कहो कि इन्द्रियें स्थूलपञ्चमहाभूतों का ही कार्य हैं, क्योंकि एक चक्षु (आंख) को ही देखलो कि वह तेज पर दौड़ती है, जिस से जाना जाता है कि तैजस है। इस का उत्तर देते हैं कि चक्षु इन्द्रिय तेज पर नहीं दौड़ती, किन्तु चक्षु की वृत्तिमात्र तेज पर दौड़ती है। यह कोई नहीं कह सकता कि आंख आदि इन्द्रियां अपनी जगह छोड़ कर तेज आदि रूप पर दौड़ती हैं। प्रत्युत आंख अपने स्थान में ही रहती हुई केवल अपनी वृत्ति

से देशान्तरस्थ तैजस रूप का ग्रहण करती है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में जानिये ॥ १०५ ॥

यदि कहो कि वृत्ति कोई वस्तु नहीं, केवल इन्द्रियां ही हैं, तो उत्तर-

*** प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद्वृत्तिसिद्धिः ॥ १०६ ॥ (४३३)**

प्राप्त अर्थ के प्रकाशरूप लिङ्ग से पाया जाता है कि वृत्ति है ॥

असंबद्ध (अप्राप्त) पदार्थ को इन्द्रियें नहीं जतातीं, तो भी प्राप्त को अवश्य जताती हैं और इन्द्रियें अपने स्थान में बनीं भी रहें और अपने सामने आये पदार्थ को भी जतावें, यह तभी होसक्ता है जब कि इन्द्रियों के अतिरिक्त इन्द्रियों की वृत्ति भी कोई पदार्थ हो। इस से वृत्ति सिद्ध है ॥१०६॥

क्यों जी ! वह वृत्ति क्या वस्तु है ? क्या जैसे आग में से चिनगारी निकलती हैं, ऐसे चक्षु आदि इन्द्रियों से वृत्ति चिनगारी से समान निकलती है ? अथवा क्या रूप रसादि के समान कोई गुण है ? वा क्या है ? उत्तर-

*** भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः संबन्धार्थं सर्पतीति ॥ १०७ ॥ (४३४)**

भाग और गुण से भिन्न वस्तु वृत्ति वह है जो संबन्ध के लिये दौड़ती है॥

चक्षु आदि इन्द्रियों को विषयों से संबन्ध कराने वाली वृत्ति है। उस वृत्ति को चक्षु आदि का भाग (चिनगारी के समान) तो इस लिये नहीं मान सकते कि अग्नि की चिनगारी स्वयं निकलकर बाहर होजाती है, किन्तु अग्नि से किसी पदार्थ का संबन्ध नहीं कराती, ऐसे ही यदि आंख की वृत्ति आंख से निकल कर विषय में पहुंच जावे तो वृत्ति और विषय में सम्बन्ध होगा, न कि आंख और विषय में। किन्तु संबन्ध होता है आंख और विषय में, इस से जाना जाता है कि वृत्ति कोई चिनगारी के समान भाग नहीं है और रूपादि के समान आंख आदि का गुण=वृत्ति होती तो आंख आदि से निकल कर विषय तक न जासकती, क्योंकि कोई गुण अपने द्रव्य को त्याग कर जा नहीं सकता और वृत्ति अवश्य जाती है, इस से जाना गया कि वृत्ति कोई गुण भी नहीं है। अब वृत्ति को क्या वस्तु समझें ? उत्तर-चक्षुरादि इन्द्रियों का अति सूक्ष्म परिणाम जो अहंकार का कार्य है, ऐसा कोई पदार्थ वृत्ति समझो ॥ १०७ ॥

यदि कहो कि चक्षु कोई ९ द्रव्यों में से द्रव्य नहीं, फिर उस की वृत्ति विषयदेश तक जानी कैसे संभव है ? तो उत्तर-

* न द्रव्यनियमस्तद्योगात् ॥ १०८ ॥ (४३५)

उस (क्रिया) के योग से, द्रव्य का नियम नहीं ॥

हमारे सांख्य की परिभाषा में वैशेषिक के समान ९ द्रव्यों का नियम नहीं, किन्तु हम तो क्रिया के योग से द्रव्य मानते हैं इस लिये हम आंख को भी द्रव्य मानते हैं और फिर उस की वृत्ति का बाहर विषयदेश में जाना असंभव नहीं रहता ॥ १०८ ॥

*न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः ॥१०९॥ (४३६)

देशभेद में भी (इन्द्रियों को) अन्योपादानता नहीं हो सकती (किन्तु) अस्मदादि के समान (सर्वत्र) नियम है ॥

जैसे हमारे देश में इन्द्रियों का उपादान कारण अहंकार है, वैसे ही अन्य देशों में भी हमारे समान ही सर्वत्र नियम है । अन्य देशों के प्राणियों की इन्द्रियों का उपादान भी अहङ्कार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है ॥१०९॥

यदि कहो कि जब किसी देश में भी इन्द्रियों का कारण पञ्चभूत नहीं हैं, अहङ्कार ही है, तो अन्य वेदानुकूल न्यायादिदर्शनकारों ने इन्द्रियों को भौतिक क्यों कहा ? उत्तर—

* निमित्तव्यपदेशात्तद्व्यपदेशः ॥ ११० ॥ (४३७)

निमित्त के कथन के वह कथन है ॥

अहङ्कार भूतों में रहता है, भूतों में से इन्द्रियां बनती हैं, इस लिये यह कहा जाता है कि इन्द्रियां भूतों से बनीं, परन्तु वास्तव कथन में बात यही है कि भूतों में स्थित अहङ्कार से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति है । जैसे इन्धन में आग सुलगती है तब कहते हैं कि इन्धन से आग उत्पन्न हुई । परन्तु इन्धन तो अग्नि के उद्भव का निमित्तमात्र है, न कि उपादान कारण । ऐसे ही भूत भी इन्द्रियों के उपादान नहीं किन्तु निमित्त हैं, निमित्त के कथन से उस को उपादान कह दिया जाता है ॥

जैसा कि हम पहले भी इस विवाद में लिख चुके हैं कि अन्य शास्त्रकारों का कथन अपनी परिभाषानुसार है । उन्हों ने प्रकृति का नाम ही पञ्चभूत (सूक्ष्म) रख कर अपना सब काम चलाया है । उन शास्त्रों में अहङ्कारनामक कार्य वस्तु का निरूपण नहीं है, अतः उन्हों ने अहङ्कार से इन्द्रियोत्पत्ति

नहीं कही, सांख्याचार्य स्थूल भूतों में व्याप्त उन्हीं सूक्ष्म अणुओं को अहङ्कारशब्द से कहते हैं, जो इन (सांख्यकार) की परिभाषा में प्रकृति का का दूसरा कार्य है, प्रकृति से १ महत्, महत् से २ अहङ्कार । यथार्थ में प्रकृति के इन दोनों कार्यों को उन्हों (अन्य न्यायादिकारों) ने गिना ही नहीं है, और यह हो सक्ता है कि कारण से कार्य बनने से जो परिणाति भेद उत्पन्न होते हैं, उन में से कई एक को कोई गणना में न लावे । मिट्टी से घड़ा बनता है, तब मिट्टी कारण और घड़ा कार्य है, यह कथन असङ्गत नहीं, परन्तु मिट्टी से घड़ा बनने तक बीच की अवस्था भी तो होती हैं । जिन अवस्थाओं में मिट्टी न तो केवल मिट्टी संज्ञक ही हो, न घड़ा ही बनगई हो, किन्तु मिट्टी और सिद्ध घट के बीच में की अवस्था भी एक और है, जब कि मिट्टी ठीक घड़ा तो नहीं बनी, प्रत्युत कुछ गोला सा बनी, फिर लम्बी की गई, फिर भीतर भीतर पोलयुक्त कीगई, फिर पोलदार गोला बना, फिर गरदन निकाल कर ठीक घड़ा बनी, अब बीच की अवस्था के विचार से कोई मिट्टी की अन्य संज्ञायें रक्खे, और उन से घड़े की उत्पत्ति बतावे, तो अनर्थ क्या है? ठीक तो है, परन्तु दूसरे सब लोग मिट्टी को कारण और घट को मिट्टी का कार्य कहें, तो वे भी कुछ विरुद्ध कहने वाले नहीं समझे जा सकते, । इसी प्रकार, प्रकृति से महत्, अहङ्कार इन दोनों बीच के परिणामों का कुछ नाम न धर कर सूक्ष्म=भूतों (पञ्च तन्मात्रों) से इन्द्रियों की उत्पत्ति कहने वाले अन्य शास्त्रकारों ने कोई एक अंश में ही उसी उद्देश पर विरुद्धवाद नहीं किया । यह बात बहुत ध्यान से विचारने योग्य है ॥ ११० ॥

* ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिक सांसिद्धिकं चेति न नियमः ॥ १११ ॥ (४३८)

१ ऊष्मज, २ अण्डज, ३ जरायुज, ४ उद्भिज्ज, ५ सांकल्पिक, ६ सांसिद्धिक (शरीर) हैं, इतना ही नियम नहीं ॥

१-ऊष्मा=भाप से वा पसीने से वा सीलन से उत्पन्न हुवे जूं, मच्छर इत्यादि, २-अण्डे से उत्पन्न पक्षी आदि, ३-जरायु=जेर से उत्पन्न मनुष्य, पशु=गौ आदि, ४-उद्भिद्=पृथिवी को फोड़ने से उत्पन्न औषधि वनस्पत्यादि, ५-संकल्प से ईश्वर ने जिस अमैथुनी सृष्टि को उत्पन्न किया वह सांकल्पिक और ६-योगी लोग सिद्धियों के बल से जिन जिन देहों को धारण कर लेते

हैं, वे सांसिद्धिक देह हैं, परन्तु इतना ही नियम नहीं, परमात्मा की सृष्टि में इन छः के अतिरिक्त भी न जाने कितने प्रकार के देह हैं ॥१११॥ तो भी-

*** सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात्तद्व्यपदेशः पूर्ववत् ॥ ११२ ॥ (४३९)**

सब (शरीरों) में पृथिवी विशेष से उपादान है, इस लिये उस का कथन पूर्ववत् (जानो) ॥

ऊष्मजादि चाहे कई प्रकार के देह हैं, तथापि सब में विशेष करके पृथिवी उपादान कारण है, अन्य साधारण कारण हैं और शरीर को पार्थिव कहना (व्यपदेश) पूर्ववत् जानो अर्थात् जैसे पहले सूत्र ११० में कह आये हैं कि स्थूल पञ्चभूतस्थ अहङ्कार से उत्पन्न होने वाली इन्द्रियों को जैसे भौतिक कहा जाता है, वैसे ही पृथिवीस्थ अन्य भूतों का कार्य होने पर भी देहोंको पार्थिव कहा जाता है ॥ ११२ ॥

*** न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः ॥ ॥ ११३ ॥ (४४०)**

देह के आरम्भ करने वाले (वायु) को प्राण नहीं कह सकते क्योंकि उस (प्राण) की सिद्धि इन्द्रियशक्ति से है ॥

देह का उपादान कारण (वायु) प्राण नहीं, क्योंकि प्राण स्वयं इन्द्रियों के सामर्थ्य से सिद्ध होता है, जैसा कि पहले कह चुके हैं कि-" सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च" २ । ३१ (१९६) और इन्द्रियां मिलकर देह बनता है ॥ ११३ ॥

तो क्या केवल पृथिव्यादि जड तत्त्व ही देह को उत्पन्न कर लेते हैं ? । उत्तर-नहीं, किन्तु-

*** भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसङ्गात् ॥ ॥ ११४ ॥ (४४१)**

भोक्ता (जीवात्मा) के अधिष्ठान से भोगायतन (देह) की रचना होती है, नहीं तो सड़ी राध का प्रसङ्ग होने से ॥

यदि देह के उपादान स्त्री के शोणित और पुरुष के वीर्य में जीव आकर अधिष्ठाता न बने तो देह उत्पन्न नहीं हो सकता, प्रत्युत वे शुक्र शोणित सड़ जाते हैं, और पूतिभाव को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ११४ ॥

यदि कहो कि देहादि का उत्पादक और अधिष्ठाता जीव है तो जीवात्मा को कूटस्थ कैसे बता सकोगे ? तो उत्तर-

* भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ॥ ११५ ॥ (४४२)

स्वामी का अधिष्ठान भृत्य (सेवक) के द्वारा है, न कि अकेले से ॥

देह का अधिष्ठाता और उत्पादक यद्यपि जीवात्मा है, परन्तु अकेला नहीं, किन्तु अपने भृत्य प्राण के द्वारा ॥ ११५ ॥

यदि कहो कि प्राण भृत्य द्वारा जीव को अधिष्ठाता क्यों मानते हो और क्यों जीव को वस्तुतः कूटस्थ मानते हो ? सीधा जीवात्मा को ही साक्षात् अधिष्ठाता मानलें तो क्या दोष है ? उत्तर-

* समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥११६॥ (४४३)

समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में (जीव को) ब्रह्मरूपता होजाती है ॥

यदि साक्षात् जीवात्मा ही अधिष्ठाता होता तो समाधि में, सुषुप्ति में और मोक्ष में भी ब्रह्म के सदृश कूटस्थ, संगरहित, निर्दुःख न होसकता। परन्तु होता है, इस से पाया जाता है कि वह भृत्य द्वारा ही अधिष्ठाता है, साक्षात् एकला स्वयं नहीं ॥

कोई लोग यहां ब्रह्मरूपता शब्द देख कर समझते हैं, कहते हैं और अपने बनाये भाष्यों और टिप्पणी वा टीकाओं और अनुवादों में भी लिखते हैं कि जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं, एक है। परन्तु उन को नीचे लिखे वचनों पर ध्यान देना चाहिये-

१-यदा पञ्चाऽवतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमाङ्गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

कठोपनिषद् वल्ली ६ कण्डिका १० । ११ ॥ इस का अर्थ यह है कि "जब ५ ज्ञानेन्द्रियें छठे मन सहित रुक जावें और बुद्धि भी कोई चेष्टा न करे, उसी स्थिर इन्द्रियधारणा को योग मानते हैं, उसी को परमगति कहते हैं, ब्रह्म बन जाने को नहीं ॥

२-यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम=सता सोम्य तदा संपन्नो भवति=स्वमपीतो भवति। तस्मादेनꣳस्वपितीत्याचक्षते ॥

छान्दोग्योपनिषत् प्रपाठक ६ खण्ड ८ कण्डिका १॥ इस में जीव के शयन का वर्णन है कि शयन स्वप्न वा निद्रा क्या है। " जिस अवस्था में यह पुरुष (जीवात्मा) सोता है अर्थात् सत् (प्रकृति) से संपन्न होजाता है, अपने आपे को प्राप्त होजाता है, हे सोम्य! (श्वेतकेतु!) उस अवस्था में इस को कहते हैं कि सोता है"॥ देखिये यहां भी शयन को ब्रह्म बनजाना नहीं कहा॥

३–द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। ०००

४–जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।

५–यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक ३ खण्ड ३ कं० १। २। ३॥

३–में जीवात्मा परमात्मा दो (२) कहे गये हैं।

४–में कहा है कि जब अपने से अन्य ईश्वर को देखता है तब मोक्ष को प्राप्त होता और दुःखों से छूटता है। इस से पाया जाता है कि मोक्ष में ब्रह्म नहीं बन जाता किन्तु ब्रह्म को देखता है॥

५–में कहा है कि जब तेजस्वी, कर्त्ता, ईश्वर, पुरुष, ब्रह्म इत्यादि पद वाच्य ब्रह्म को देखता है तब पुण्य पाप को त्यागकर निर्दोष होकर अत्यन्त समानता को प्राप्त होता है॥ जिस से पाया जाता है कि दुःखरहितता और आनन्दभोग में ब्रह्म के समान होजाता है, न कि ब्रह्म ही होजाता है॥

६–ब्रह्मविदाऽऽप्नोति परम्॥

तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली २ अनुवाक १॥

ब्रह्म का जानने वाला (जीवात्मा) दूसरे (परमात्मा) को प्राप्त होता है॥ इस में भी ब्रह्म बनजाना नहीं कहा॥

७–यतो वाचोनिवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणोविद्वान्न बिभेति कदाचनेति॥

तैत्ति० ब्रह्मानन्द वल्ली २ अनु० ४

जिस ब्रह्म को विना पाये वाणी मन सहित हट जाती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जानता हुवा किसी समय भय नहीं करता॥ इस में भी निर्भय

निरामय पद मुक्ति में ब्रह्म के आनन्द का जानना कहा है; न कि ब्रह्म बनजाना॥

८-अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ४॥

भावार्थ-इसमें परमात्मा जीवात्मा प्रकृति इन तीनों का वर्णन करते हैं कि-(एकाम्) एक, (सरूपाः बह्वीः, प्रजाः, सृजमानाम्) अपने सी, बहुत, प्रजाः को, उत्पन्न करती हुई (लोहितशुक्लकृष्णाम्) रजः सत्व तमः वाली (अजाम्) अनादि प्रकृति को (एकः, अजः) एक अजन्मा जीवात्मा (जुषमाणः) सेवता हुआ (अनुशेते) लिपटता है । परन्तु (अन्यः, हि, अजः) दूसरा, अजन्मा परमात्मा (भुक्तभोगाम्) जीव से भोगी हुई (एनाम्) इस [प्रकृति] को (जहाति) नहीं लिपटता ॥

एक अजा प्रकृति, दो अज जिन में से एक जीवात्मा है जो त्रिगुणात्मक जगत् के कारण प्रकृति से लिप्त होता है और दूसरा परमात्मा पृथक् रहता है ५।

९-द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व-त्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति४॥६॥

भावार्थ-उक्त विषय में ऋग्वेद अष्टक २ अध्याय ३ वर्ग १७ की ऋचा को कहते हैं कि-(द्वा) दो (सुपर्णा) पक्षी (सयुजा) साथ मिले हुवे (सखाया) मित्र से हैं और (समानम्) अपने समान (वृक्षम्) वृक्ष के (परिषस्वजाते) सब ओर से सङ्ग हैं (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक तो (पिप्पलम्) फल को (स्वादु) स्वादु बना कर (अत्ति) खाता है और (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुवा (अभिचाकशीति) साक्षिमात्र है॥

प्रकृतिरूप एक वृक्ष है । इसे वृक्ष की उपमा इस कारण दी है कि वृक्ष शब्द-छेदन अर्थ वाले " व्रश्चू " धातु से बना है । प्रकृति विकृत होती और छिन्न भिन्न होती रहती है । इस वृक्ष में दो पक्षी रहते हैं, ये परमात्मा और जीवात्मा हैं । वृक्ष अचलत्व से असमर्थ होता है और पक्षी कर्मसमर्थ होते हैं, इस लिये इन दोनों आत्माओं को पक्षियों की उपमा दीगई है । वृक्ष को "समान" इस अंश में कहा है कि वह भी अनादि है । इन दोनों को सयुज् इसलिये कहा है कि व्याप्यव्यापकभाव से एक दूसरे से संयुक्त हैं । मित्र इसलिये

कहा है कि चेतनत्वादि कई बातों में मित्रों के समान एक से हैं। भेद बड़ा भारी यह है कि एक वृक्ष के फल खाता अर्थात् कर्म करता और उन के फल भोगता है और दूसरा परमात्मा क्लेशकर्मविपाकाशयों से सर्वथा पृथक् है ॥६॥

१०—समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ७॥

भावार्थः—अब मध्यस्थ जीवात्मा को एक ओर प्रकृति है, उस के सङ्ग से बन्धन और दूसरी ओर परमात्मा है, उस के सङ्ग से मोक्ष होता है, सो कहते हैं-(पुरुषः) जीवात्मा (समाने) अपने समान अनादि (वृक्षे) छिन्न भिन्न होने वाली प्रकृति के पदार्थों में (निमग्नः) डूबा हुवा (अनीशया) परतन्त्रता से (मुह्यमानः) अज्ञानवश (शोचति) शोक करता है (यदा) परन्तु जब (जुष्टम्) अपने में व्यापक (अन्यम्) दूसरे (ईशम्) स्ववश परमात्मा को और (अस्य महिमानम्) उस की बड़ाई को (पश्यति) देखता है (इति) तब (वीतशोकः) शोकरहित हो जाता है ॥

तात्पर्य यह है कि जब जीवात्मा प्रकृति के कार्यों में डूब कर आपे को भी भूल जाता है और देह ही को आत्मा समझने लगता है तो बड़े शोक होते हैं कि हाय ! मैं दुर्बल हो गया, हाय ! मेरे फोड़ा निकला है, हाय ! मेरा हाथ पांव आदि कट गया, हाय ! मेरी स्त्री वा पुत्रादि मर गया। इत्यादि प्रकार से शोकसागर में डूबता है, परन्तु जब अपने ही में व्यापक परमात्मा में ध्यान लगाता है तो प्रकृति का ध्यान छोड़ने से समझने लगता है कि देह से भिन्न मैं चेतन हूं । मैं दुर्बल रोगी आदि नहीं होता। मुझे तो अपने सदा सहवर्त्ती परमात्मा के आनन्द से आनन्द ही आनन्द है। ऐसी रीति से विशोक हो जाता है " ॥ ११६ ॥

* द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः ॥ ११७ ॥ (४४४)

दो में सबीज और अन्यत्र (तीसरे) में उस (बीज) का नाश होजाता है॥

१ समाधि, २ सुषुप्ति, ३ मोक्ष; इन ३ अवस्थाओं में पूर्वसूत्र से ब्रह्मरूपता कही गई है। उन तीनों में से पहली दो अवस्थाओं (१ समाधि, २ सुषुप्ति) में तो अधिष्ठातृत्व का बीजमात्र रहता है, परन्तु ३ मोक्ष में उस बीज मात्र का भी नाश हो जाता है । यही मोक्ष में समाधि और सुषुप्ति से विशेष है ॥ ११७ ॥

यदि कहो कि समाधि और सुषुप्ति तो देखी हुई हैं, परन्तु मोक्ष तो देखा नहीं जाता, फिर दो ही (समाधि, सुषुप्ति) अवस्था क्यों न मानें, तीसरे मोक्ष मानने की क्या आवश्यकता है ? उत्तर—

*** द्वयोरिव त्रयस्याऽपि दृष्टत्वान्न तु द्वौ ॥ ११८ ॥ (४४५)**

दो के समान तीनों के दृष्ट होने से केवल दो ही नहीं (मान सकते)॥

जैसे समाधि और सुषुप्ति को सब ने अनुभव नहीं किया, किन्तु निश्चिन्त पुरुषों ने सुषुप्ति और योगियों ने समाधि का अनुभव किया है, वैसे ही प्रकृति पुरुष के पूर्णविवेकसम्पन्न पुरुषों ने मोक्ष का भी अनुभव किया है । इस लिये यह नहीं कह सकते कि केवल समाधि सुषुप्ति दो ही अवस्था में ब्रह्मरूपता है, किन्तु निर्बीज ब्रह्मरूपता तो तीसरी मोक्ष ही है ॥११८॥

यदि कहो कि समाधि में तो क्लेश कर्मादि वासना के कुण्ठित हो जाने और सब वृत्तियों के लय हो जाने से जीवात्मा को अधिष्ठातृत्व से छुटकारा होना और ब्रह्मरूपता होना मान सकते हैं, परन्तु सुषुप्ति में कैसे मान सकते हैं, जब कि क्लेश कर्मादि की वर्त्तमानता है ? उत्तर—

*** वासनयाऽनर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न, निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् ॥ ११९ ॥ (४४६)**

दोष के योग होते हुवे भी वासना से अनर्थ की ख्याति नहीं होसकती और निमित्त को मुख्य बाधकता है ॥

यद्यपि सुषुप्ति में तमोगुणदोष का योग है, तो भी वासना से कोई अनर्थ (क्लेशादि) प्रकट नहीं होसकता और सुषुप्ति का निमित्त तमोगुण मुख्यतया दुःखादि को रोके रहता है । इस लिये सुषुप्ति में भी ब्रह्मरूपता (निर्दुःखता अंश में) अवश्य है ॥ ११९ ॥

*** एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्त्तको, न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पनाप्रसक्तेः ॥ १२० ॥ (४४७)**

एक संस्कार क्रिया को सिद्ध करदेने वाला है, किन्तु प्रत्येक क्रिया के अनेक भिन्न २ संस्कार नहीं होते । क्योंकि (फिर तो) बहुत कल्पना करनी पड़ेगी॥

कुम्भकार चाक को एक वार बलपूर्वक घूमने का संस्कार (वेग) देदेता है, वह एक ही वेगाख्य संस्कार उस चक्र (चाक) को अनेक वार घुमाता

है, यह नहीं कि चक्र की एक एक आवृत्ति के लिये भिन्न २ वेग (घूम) देने पड़ें। इसी प्रकार जीव भी पूर्वकृत कर्मों के संस्कारवश अनेक प्रकार के भोगार्थ क्रिया करते हैं, यह आवश्यक नहीं कि अनेक संस्कार युगपत् वा क्रम से हों तभी अनेक क्रियायें हों ॥ १२० ॥

पूर्व जो कहा था [सूत्र १११ (४३८)] कि उद्भिज्ज भी जीव का देह है, उस पर शङ्का होती है कि सब योनिस्थ जीवों को बाह्य पदार्थों का ज्ञान (बोध) होता है, परन्तु उद्भिज्ज वृक्षादिकों को तो नहीं होता, तब क्या उद्भिज्जों में कर्मसंस्कारजनित फलभोग भी नहीं है ? उत्तर–

*** न बाह्यबुद्धिनियमो * वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृण वीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ॥१२१॥ (४४८)**

बाह्यबुद्धि का नियम नहीं, क्योंकि वृक्ष, गुल्म, लता, ओषधि, वनस्पति, तृण और वीरुध् आदिकों को भी पूर्व (ऊष्मज अण्डजादि) के तुल्य भोक्तृभोगायतनत्व है ॥

वृक्षादि में भी जीव भोक्ता है, उन का देह भोगायतन है, जैसा कि उद्भिज्ज से पूर्व गिनाये ऊष्मज अण्डज जरायुजादि में है। इस लिये यह नियम नहीं कि सब योनियों में बाह्य बुद्धि हो ही हो। प्रत्युत किसी योनि में बाह्य पदार्थों के देखने आदि की बुद्धि है, और किसी २ में नहीं है। १ वृक्ष वे कहाते हैं जिन पर पुष्प से फल उत्पन्न हों, जैसे आम्रादि। २ झाड़ के आकार वाली झाड़ी बेर आदि छत्ते वाले गुल्म हैं। ३ गुडूची सोम-

* टिप्पणी–महादेव वेदान्ती जी ने अपनी वृत्ति में १२१ वें सूत्र के दो सूत्र मान कर वृत्ति की है। उन्हों ने–

" न बाह्यबुद्धिनियमः " ॥ १२१ ॥

सूत्र करके, फिर उत्थानिका उठाई है कि–जङ्गमशरीरन्यायं स्थावरे गतिदिशति–

"वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् " ॥ १२२ ॥

इस कारण उन की वृत्ति के अनुसार पञ्चमाऽध्याय के सब १२९ के स्थान में १३० सूत्र होगये हैं ॥

लतादि सूत निकलने वाली बल्लियां लता हैं। ४ जिन पर एक वार फल आ कर पक कर उन का अन्त करदे, वे यव गोधूमादि ओषधि कहे जाते हैं। ५ जिन में पुष्प के विना ही फल लग जावें, जैसे गूलर पीपलादि; ये वनस्पति हैं। ६-दूर्वा आदि जड़ों से फैलने वाले तृण कहाते हैं। ७-शाखादि से बहुत फैलाव वाली जो वेलि हैं, वे वीरुत्संज्ञक हैं। आदि शब्द से और अनेक, जिन पर फल नहीं आते, केवल पुष्प ही आते हैं, उन असंख्य उद्भिज्जों का ग्रहण है। वृक्षादि भेदों के लक्षण मनु १।४६-४८ में कहे हैं ॥१२१॥

सांख्यकार कहते हैं कि बाह्य बुद्धि के विना भी भोक्तृभोगायतन मानना स्मृति से भी सिद्ध है। तथाहि-

* स्मृतेश्च ॥ १२२ ॥ (४४९)

स्मृति से भी (वृक्षादिकों को भोक्तृभोगायतनत्व पाया जाता है)॥ जैसा कि मनु अ० १२ में कहा है कि-

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥

अर्थात् मनुष्य शारीरक कर्मदोषों से स्थावर योनि को (फलभोगार्थ) प्राप्त होता है, वाणी के दोषों से पक्षी और मृग होता है, और मानस कर्म दोषों से अन्त्य जाति (चण्डालादि) होता है ॥

सूत्र के च शब्द से कोई आचार्य श्रुति का भी संग्रह करते हैं, और छां० उपनिषद् प्र० ६ खं० ११ कं० २, ३ में लिखी श्रुति उद्धृत करते हैं। यथा-

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति। द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति। तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति। सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य! विद्धीति होवाच ॥२॥ जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते० ॥ ३ ॥

अर्थात् जब जीव इस (वृक्षादि देह) की एक शाखा को छोड़ देता है तब वह (शाखा) सूख जाती है, जब दूसरी (शाखा) को त्याग देता है तो वह भी शुष्क हो जाती है और जब तीसरी को छोड़ जाता है तो वह सूखी ठुंठ रह जाती है, (यहां तक कि) जब सर्व (वृक्षादि) को (जीव) छोड़ कर निकल जाता है तब समस्त (वृक्षादि देह) सूख जाता है। हे

सोम्य (श्वेतकेतो !) तू ऐसा ही जान (कि-) ॥ २ ॥ जीव से त्यागा हुवा यह (देह) मर जाता है, जीव नहीं मरता ॥ ३ ॥ महादेववेदान्ती जी अपनी सांख्यसूत्रवृत्ति में किसी अन्य स्मृति का प्रमाण देते हैं कि-

अभिवादितस्य योविप्र आशिषं न प्रयच्छति ।
श्मशाने जायते वृक्षो गृध्रकङ्कनिषेवितः ॥

अर्थात् जो ब्राह्मण प्रणाम के उत्तर में (अभिमान से) आशीर्वाद न दे, वह श्मशानभूमिस्थ वृक्षयोनि को प्राप्त होता है जहां गृध्र और काकादि उस पर बैठते हैं ॥ विज्ञानभिक्षु भाष्यकार, स्वामी हरिप्रसाद जी अपनी वैदिक वृत्ति, पं० आर्यमुनि सांख्यार्यभाष्य, और बा० प्रभुदयालु सांख्यानुवाद में भी मनु के उक्त श्लोक को उद्धृत करते हैं ॥ मनुस्मृति (१२ । ४) में यह भी लिखा है कि-स्थावर को जघन्य तामस योनि कहा है । यथा-

स्थावराः कृमिकीटाश्च । तथा-
तृण गुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ।
क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ मनु १२ । ५८ ॥

गुरुपत्नीगामी पुरुष सैंकड़ों बार तृण, गुल्म, लता, क्रव्याद्, कीले वाले और क्रूरकर्मी देहों को प्राप्त होता है ॥ इस में भी स्थावर से वृक्षादि की योनि का स्वीकार है ॥ तथा-

अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ अ० १ । ४९ ॥

अर्थात् वृक्षादि को बाह्य बुद्धि तो नहीं होती, किन्तु "आन्तरिक संज्ञा तो हैं जिस से ये सुखदुःखादि भोगते हैं ॥ श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती महाराज ने भी सत्यार्थप्रकाश में इस मनु के श्लोक को उद्धृत करके जीव वृक्षादि योनि को प्राप्त होना, और सुखदुःखादिभोग माना है ॥ वृक्षादि फलादि देना तो इसी प्रकार है, जैसे गवादि से दुग्धादि का ग्रहण है ॥१२२॥

तो क्या वृक्षादि को विहित कर्मानुष्ठान का भी अधिकार है ? उत्तर-नहीं, क्योंकि-

न देहमात्रतः कर्माधिकारिता, वैशिष्ट्यश्रुतेः ॥१२३॥ (४५०)

देहमात्र से कर्मों का अधिकारी होना नहीं हो सकता, क्योंकि विधि-का श्रवण है ॥

क्योंकि वेद की श्रुतियों में कर्मोऽधिकार विशेष कर मनुष्य को दिया है और मुक्ति का अधिकारी भी मनुष्य योनि को ही ठहराया है, इस लिये देहमात्र से कर्म का अधिकारीपन नहीं हो सकता। श्रुति यह है कि-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

यजुर्वेद ४० । २ तथा ईशोपनिषद् ॥ २॥

तुझ मनुष्य को इसी प्रकार कर्मलेप छूट सकता है कि कर्मों (विहितानुष्ठानों) को करता हुवा ही १०० सौ वर्ष जीवन की इच्छा करे॥

इस में त्वयि और नरे शब्द स्पष्ट मनुष्य को कर्माधिकार देते हैं, और उसी को मुक्ति ॥ १२३ ॥ तो क्या देह भी कई प्रकार के हैं ? उत्तर-हां, सुनिये-

* त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोग देहोभयदेहाः ॥ १२४ ॥ (४५१)

१ कर्मदेह २ उपभोगदेह ३ उभयदेह, इन तीनों की तीन प्रकार की व्यवस्था है॥

यद्यपि कोई सा देह भी सामान्य करके भोग से नहीं बच सकता, क्योंकि भोगायतन का नाम ही देह है, परन्तु इस सूत्र में जो एक १ उत्तम देह को केवल कर्मदेह कहा है सो मुख्यत्व के अभिप्राय से है। अर्थात् चाहे सभी को कुछ न कुछ भोग होता है, परन्तु ज्ञानी (ब्रह्मज्ञानी) पुरुष कर्म करते हैं और उस के फल की लिप्सा नहीं करते, इस लिये उन का देह चाहे प्रारब्ध कर्मानुकूल फल भोगता भी है, तथापि उन को कपिल जी भोग देह वाला नहीं मानते। इस प्रकार वैराग्यादिमान् ज्ञानी पुरुषों का देह १-कर्मदेह, इतर मनुष्यों का देह २-उभयदेह (दोनों=कर्म और उपभोग का देह) है। ३-तीसरे इतर तिर्यग्योनि वाले पशु पक्षी स्थावरान्त सब देह उपभोग देह हैं॥ इन ३ प्रकार के देहों की व्यवस्था भाष्यकार विज्ञानभिक्षु जी इस प्रकार करते हैं कि-

तत्र कर्मदेहः परमर्षीणां, भोगदेह इन्द्रादीनाम्, उभयदेहश्च राजर्षीणामिति। अत्र प्राधान्येन त्रिधा विभागः। अन्यथा सर्वस्यैव भोगदेहत्वापत्तेः॥

अर्थात् १-परम ऋषियों का कर्मदेह, २-इन्द्रादि का भोगदेह, ३-और राजर्षियों का उभयदेह ॥ इन में प्रधानता (मुख्यता के अभिप्राय) से तीन प्रकार हैं, क्योंकि वैसे (सामान्य से) तौ सर्व ही को भोगदेहत्वापत्ति होगी ॥

परन्तु मैंने विज्ञानभिक्षु जी के मत को इस लिये ग्रहण नहीं कि उन के मत से तौ ऋषि, देव, मनुष्यों के ही तीनों देह होगये। वृक्षादि का तौ कथन ही क्या है, उन के कथन से तौ पशु पक्षी भी देहगणना में न आये ॥

महादेववेदान्ती जी की वृत्ति में वही मत है जो मैंने अपना मत ऊपर दिखाया है। यथा–

वीतरागाणां फलन्यासेन कर्म कुर्वतां कर्मदेहः, पश्वादीनामुपभोगदेहः, भोगिनां कर्मिणामुभयदेहः ॥

अर्थात् वीतराग मनुष्यों का, जो फल त्याग से कर्म कर रहे हैं, कर्मदेह है। पशु आदि का उपभोगदेह है। और भोगी कर्मी अन्य मनुष्यों का उभयदेह है ॥१२४॥

* न किञ्चिदऽप्यऽनुशयिन :॥ १२५ ॥ (४५२)

अनुशयी का कोई भी (तीनों में से देह) नहीं ॥

जब जीव उक्त ३ प्रकार के देहों को त्याग कर लिङ्गशरीर मात्र के साथ शयन करजाता है अर्थात् सुषुप्ति के सी दशा को प्राप्त होजाता है, वह प्राणी जब तक मेघमण्डलादि से आप्यायित होता हुवा किसी योनि विशेष को प्राप्त होगा, इस बीच में जो उस की अवस्था है, उस अवस्था में वह अनुशयी कहाता है। इस अनुशयी जीव का वह लिङ्ग देहमात्र शरीर न तौ कर्मदेह है, न भोगदेह है, न उभयदेह है, कोई नहीं। उस लिङ्गदेह में अनुशयन करता हुवा जीव न कोई कर्म करता, न भोग भोगता और न मुक्त होजाता है ॥ १२५ ॥

बुद्धि आदि तत्त्व जो पुरुष के आश्रय काम करते हैं, जिज्ञासु कहेगा कि वे अनित्य क्यों हैं, जब कि वे एक काल में एक पुरुष के आश्रय न रहे तौ अन्य पुरुषों के आश्रय रहे, रहे तौ सही, नष्ट तौ न हुवे, फिर वे अनित्य क्यों हुवे? उत्तर–

* न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वह्निवत् ॥ ॥ १२६ ॥ (४५३)

आश्रय विशेष रहने पर भी बुद्ध्यादि नित्य नहीं हो सकते, जैसे अग्नि।
जिस प्रकार एक रसोई की अग्नि बुझ जाता है, तब भी अन्य रसोई आदि स्थानों में अग्नि बना रहता है, तो क्या जिस रसोई की आग बुझगई उस को नित्य कहसकेंगे ? कभी नहीं। इसी प्रकार एक पुरुष की बुद्धि नष्ट होती देख कर अन्य पुरुषों के आश्रय में अन्य बुद्धि के रहने से बुद्धि की नित्यता नहीं सिद्ध होती। इसी प्रकार आदि शब्द से इन्द्रियादि की नित्यता भी नहीं बनती ॥ १२६ ॥

* आश्रयाऽसिद्धेश्च ॥ १२७ ॥ (४५४)

आश्रय के सिद्ध न होने से भी ॥

बुद्धि आदि का आश्रय भी वास्तव में जीव सिद्ध नहीं होसकता। जीव (पुरुष) असंग होने से बुद्ध्यादि का नित्य (स्थायी) आश्रय भी नहीं है। इस से भी बुद्ध्यादि को नित्य नहीं कहसकते ॥ १२७ ॥

प्रथम सूत्र (४३८) में सांसिद्धिक शरीर कहा था, यदि कोई उस सांसिद्धिक शरीर की सत्ता में सन्देह करके न माने तो कपिल मुनि कहते हैं कि-

* योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ॥
॥ १२८ ॥ (४५५)

योग की सिद्धियें भी औषधादि की सिद्धि के समान हैं जो अमान्य नहीं होसकतीं ॥ १२८ ॥

* न भूतचैतन्यं प्रत्येकाऽदृष्टेः सांहत्येऽपि च,
सांहत्येऽपि च ॥ १२९ ॥ (४५६)

प्रत्येक भूत (पृथिवी तत्त्वादि महाभूत) में (चेतनता) न दीखने से संहत होने=इकट्ठा होने पर भी भूतों को चेतनता नहीं हो सकती॥ "सांहत्येऽपि च" यह पुनः पाठ अध्यायसमाप्तिसूचनार्थ है ॥ १२९ ॥

इस प्रकार अपने सिद्धान्तों को दृढ़ता और अन्य जिज्ञासु वा प्रतिवादियों के मत को निराकरण करते हुवे यह पञ्चमाऽध्याय समाप्त हुवा ॥

इति

श्री तुलसीराम स्वामिकृते सांख्यदर्शनभाषानुवादे
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

ओ३म्

अथ षष्ठोऽध्यायः

* अस्त्यात्मा, नास्तित्वसाधनाऽभावात् ॥१॥ (४५७)

न होने के साधन न होने से, आत्मा है ॥

" आत्मा नहीं है, " इस बात में कोई सिद्ध करने को साधन नहीं है इस लिये मानना पड़ेगा कि " आत्मा है " ॥ १ ॥ यदि कहो कि आत्मा है तो, परन्तु देहादि ही आत्मा है, अन्य नहीं, तो उत्तर–

* देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ॥ २ ॥ (४५८)

वह (आत्मा) विचित्र होने से, देहादि से भिन्न (वस्तु) है ॥

देह, इन्द्रियां, मन इत्यादि संघात जड़ है, आत्मा इस से विचित्र चेतन है, इसलिये देहादि का ही नामान्तर आत्मा नहीं है, किन्तु इस से भिन्न आत्मा विचित्र है ॥ २ ॥

* षष्ठीव्यपदेशादऽपि ॥ ३ ॥ (४५९)

षष्ठी (विभक्ति) के व्यपदेश से भी (आत्मा देहादि से भिन्न सिद्ध है) ॥

संस्कृत की षष्ठी विभक्ति का अर्थ " का, के, की " होता है । उदाहरण– देवदत्त का शिर, यज्ञदत्त के हाथ, विष्णुमित्र की जङ्घा इत्यादि। इस से पाया जाता है कि देवदत्त और शिर एक ही होते तो ' देवदत्त का शिर ' यह षष्ठी (का) न प्रयोग में आती । आती है, इस से पाया जाता है कि शिर, हाथ, जङ्घा आदि से देवदत्त यज्ञदत्तादि संज्ञावाले आत्मा भिन्न हैं । जैसे ' देवदत्त का घोड़ा ' कहने से देवदत्त और घोड़ा एक नहीं हो सकते, इसी प्रकार देवदत्त का शिर, हाथ, पांव, कहने से देवदत्त ही शिर हाथ पांव नहीं हो सकते । इस से पाया जाता है कि आत्मा ही देहादिसंज्ञक नहीं है ॥

न्यायदर्शन अध्याय ३ के आरम्भ ही में विस्तार से आत्मा का देहादि-व्यतिरिक्त होना वर्णन किया है वह भी पाठकों के विनोदार्थ तथा विषय की पुष्ट्यर्थ नीचे लिखते हैं:–

"प्रमेयों में पहिला और मुख्य आत्मा है, इस लिये प्रथम आत्मा की ही विवेचना की गई है। क्या देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और वेदना के संघात का ही नाम आत्मा है या आत्मा इन से कोई भिन्न पदार्थ है? पहिले सूत्र में इन्द्रियचैतन्यवादियों के मत का निराकरण किया है:-

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥

उ०-दर्शन और स्पर्शन से एक ही अर्थ का ग्रहण होने से (आत्मा देहादि से भिन्न है)॥ जिस विषय को हम आंख से देखते हैं, उसी को त्वचा से स्पर्श भी करते हैं। नींबू को देख कर रसना में पानी भर आता है। यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता था, क्योंकि "अन्य-दृष्टमन्यो न स्मरति" देवदत्त के देखे हुवे अर्थ का यज्ञदत्त को कभी स्मरण नहीं होता। फिर आंख के देखे हुवे विषय का जिह्वा से वा त्वचा से क्योंकर अनुभव किया जाता है। जो कि हम विना किसी सन्देह के एक इन्द्रिय के अर्थ को दूसरे इन्द्रिय से ग्रहण करते हैं, इस से सिद्ध है कि उस अर्थ के ग्रहण करने में इन्द्रिय स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु इन के अतिरिक्त ग्रहीता कोई और है जो इन के द्वारा एककर्तृक अनेक प्रत्ययों को ग्रहण करता है और वही चेतन आत्मा है॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

न, विषयव्यवस्थानात् ॥ २ ॥

पूर्वपक्ष-उक्त कथन ठीक नहीं है, विषयों की व्यवस्था होने से॥ देहादि संघात के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, विषयों की व्यवस्था होने से। इन्द्रियों के विषय नियत हैं, आंख के होने पर रूप का ज्ञान होता है, न होने पर नहीं होता और यह नियम है कि जो जिस के होने पर होता और न होने पर नहीं होता, वह उसी का समझा जाता है। इस लिये रूपज्ञान नेत्र का है क्योंकि वही उस को देखता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय भी अपने २ अर्थज्ञान में स्वतन्त्र हैं। जब इन्द्रियों के होने से ही विषयों की उपलब्धि होती है तब उन से भिन्न अन्य किसी चेतन की कल्पना क्यों की जाय? अब इस का समाधान करते हैं:-

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥ ३ ॥

उ०-उक्त विषयव्यवस्था से ही आत्मा की सिद्धि होने से निषेध नहीं हो सकता॥ इन्द्रियों के विषयों की व्यवस्था होने से ही (उन से भिन्न चेतन) आत्मा की सत्ता माननी पड़ती है। यदि इन्द्रियों के विषय नियत न होते

अर्थात् एक इन्द्रिय से दूसरे इन्द्रिय के विषय का भी ग्रहण हो सकता, तब तो उन में स्वतन्त्रता की कल्पना की जा सकती थी। परन्तु जिस दशा में कि उन के विषय नियत हैं अर्थात् आंख से रूप का ही ग्रहण होता है, न कि गन्धादि अन्य विषयों का। इस से यह सिद्ध होता है कि सब विषयों का ज्ञाता चेतन आत्मा जो इन्द्रियों से अपने २ विषयों को ही ग्रहण कराता है, उन से भिन्न है॥ इन्द्रियचैतन्यवादियों के मत का खण्डन करके, अब देहात्मवादियों के मत का खण्डन करते हैं:-

शरीरदाहे पातकाभावात्॥ ४॥

उ०-शरीर को जलाने में पाप न होने से (आत्मा शरीर से पृथक् है)॥ यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है तो मृत शरीर को जलाने में पाप होना चाहिये, परन्तु पाप सजीव शरीर को जलाने में होता है, न कि मृत शरीर को॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्॥ ५॥

पू०-उस (आत्मा) के नित्य होने से सजीव शरीर के जलाने में भी पाप न होना चाहिये॥ सजीव शरीर के जलाने में भी पाप का अभाव होना चाहिये, आत्मा के नित्य होने से। क्योंकि जो देह से भिन्न आत्मा को मानते हैं, वे उस को नित्य भी मानते हैं। यथा-"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे"। अर्थात् आत्मा न कभी उत्पन्न होता और न मरता है, न कभी उत्पन्न हुवा न होगा, न मरा न मरेगा, वह अज, नित्य, सनातन और पुराण है, शरीर के नाश होने पर उस का नाश नहीं होता। तथा आगे चल कर उसी गीता में कहा है:-"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः"॥ अर्थात् आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकता, जल गला नहीं सकते और न पवन सुखा सकता है॥ जब ऐसा है तो फिर आत्मा सहित शरीर के जलाने में भी कुछ पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि नित्य आत्मा की कोई हिंसा नहीं कर सकता। यदि कहो कि हिंसा होती है, तो आत्मा का नित्यत्व न रहेगा। इस प्रकार पहिले पक्ष में हिंसा निष्फल होती है और दूसरे पक्ष में उस की उपपत्ति नहीं होती॥ अब इस पर समाधान करते हैं:-

न, कार्याश्रयकर्तृवधात ॥ ६ ॥

उ०-शरीर और इन्द्रियों के उपघात होने से (पूर्वपक्ष) ठीक नहीं ॥ इस सूत्र में गोतम मुनि अपना अन्तिम सिद्धान्त कहते हैं । हम नित्य आत्मा के वध को हिंसा नहीं कहते किन्तु कार्याश्रय शरीर और विषयोपलब्धि के कारण इन्द्रियों के उपघात (जिस से आत्मा में विकलता उत्पन्न होती है) को हिंसा कहते हैं । सुख दुःख रूप कार्य हैं, उन का ज्ञान शरीर के द्वारा किया जाता है, इस लिये वह कार्याश्रय कहाता है और इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण किया जाता है, इस लिये उन में कर्तृत्व का व्यपदेश किया है। तो उस शरीर और इन्द्रियों के प्रबन्ध का जो उच्छेद करना है, इसी का नाम हिंसा है, इस लिये हमारे मत में उक्त दोष नहीं आता ॥ अब आत्मा के देहादि संघात से भिन्न होने में दूसरा हेतु देते हैं:-

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥

उ०-बांई (आंख) से देखी हुई वस्तु का दाहिनी (आंख) से प्रत्यभिज्ञान होने से (आत्मा देहादि से पृथक् है) ॥ पूर्वापर ज्ञान के मेल को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । जैसे-यह वही यज्ञदत्त है जिसको मैंने वारायणसी में देखा था । बाईं आंख से देखी हुई वस्तु की जो दाहिनी आंख से प्रत्यभिज्ञा होती है, इस से सिद्ध होता है कि उस प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है । यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तो बाईं आंख से देखी हुई वस्तु को दांई आंख कभी नहीं पहचान सकती थी, जैसे देवदत्त के देखे हुये को यज्ञदत्त नहीं जान सकता ॥ इस पर आक्षेप करते हैं:-

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥ ८ ॥

पू० नाक की हड्डी का आवरण होने से एक में दो का अभिमान होने से (यह कथन) युक्त नहीं है ॥ वास्तव में चक्षु इन्द्रिय एक ही है, नाक की हड्डी के बीच में आजाने से लोगों को दो की भ्रान्ति हो रही है । जैसे किसी तड़ाग में पुल बान्ध देने से दो तड़ाग नहीं हो जाते, ऐसे ही एक मस्तक में नाक का व्यवधान होने से आंख दो वस्तु नहीं हो सकतीं । अतएव प्रत्यभिज्ञा कैसी ? अब इस आक्षेप पर समाधान करते हैं:-

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ॥ ९ ॥

उ०- एक के नाश होने पर दूसरी का नाश न होने से एकता नहीं हो सकती ॥ यदि चक्षु इन्द्रिय एक ही होता तो एक आंख के नष्ट होने पर

दूसरी भी नहीं रहती, परन्तु यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक आंख के फूट जाने पर दूसरी शेष रहती है और उस से आंख का काम लिया जाता है। इस लिये चक्षु एक नहीं ॥ पुनः पूर्वपक्षी इस पर आक्षेप करता है:-

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥ १० ॥

पू० उक्त हेतु ठीक नहीं है क्योंकि अवयव के नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि देखने में आती है। जैसे वृक्ष की किन्हीं शाखाओं के कट जाने पर भी वृक्ष की उपलब्धि होती है, ऐसे ही अवयव रूप एक चक्षु के विनाश होने पर भी दूसरे चक्षु में अवयवी की उपलब्धि शेष रहती है। इस लिये चक्षुद्वैत मानना ठीक नहीं ॥ अब सिद्धान्तसूत्र के द्वारा समाधान करते हैं:-

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥

उ०-दृष्टान्त के विरोध से निषेध नहीं हो सकता ॥ दृष्टान्त के विरोध से चक्षुद्वैत का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे शाखायें वृक्ष रूप अवयवी का अवयव हैं, तद्वत् एक चक्षु दूसरे चक्षु का अवयव नहीं अर्थात् वे दोनों ही अवयव हैं। अवयवी उन का कोई और है। अतः दृष्टान्त में विरोध आने से निषेध युक्त नहीं। अथवा दृश्यमान अर्थ के विरोध को दृष्टान्त-विरोध कहते हैं। मृत मनुष्य के कपाल में नासास्थि का व्यवधान होने पर भी दो छिद्र भिन्न २ रूप से स्पष्ट दीख पड़ते हैं। यों तो हृदय का व्यवधान होने से दोनों हाथों को भी कोई एक कह सकता है, परन्तु यह दृश्यमान अर्थ का साक्षाद्विरोध है। इस लिये चक्षुरैक्य मानना ठीक नहीं और जब चक्षु दो सिद्ध होगये, तब एक के देखे हुये अर्थ की दूसरे को प्रत्यभिज्ञा होना यह सिद्ध करता है कि उस प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है और वही चेतन आत्मा है॥ फिर इसी की पुष्टि करते हैं:-

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥

उ०-(किसी इन्द्रिय से उस के विषय को ग्रहण करने पर) अन्य इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होने से (आत्मा देहादि से पृथक् है)॥ किसी अम्ल द्रव्य को चक्षु से देखने अथवा घ्राण से उस का गन्ध ग्रहण करने पर रसना में विकार उत्पन्न होता है, अर्थात् मुंह में पानी भर आता है। यदि इन्द्रियों को ही चेतन माना जावे तो यह बात हो नहीं सकती कि अन्य के देखे को

कोई अन्य स्मरण करे। इस लिये इन्द्रियों से पृथक् कोई आत्मा है॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

न, स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥ १३ ॥

पू०-स्मृति के स्मर्त्तव्यविषयिणी होने से (पृथक् आत्मा के मानने की कोई आवश्यकता) नहीं॥ स्मरणीय विषयों का अनुभव करना स्मृति का धर्म है, वह स्मृति स्मर्त्तव्य विषयों के योग से उत्पन्न होती है, उसी से इन्द्रियान्तरविकार उत्पन्न होते हैं जिस मनुष्य ने एक वार नीबू के रस को चाखा है, दूसरी वार उस को स्मरण करने से उस के मुंह में पानी भर आता है, सो यह स्मृति का धर्म है, न कि आत्मा का॥ अब इस का समाधान करते हैं:-

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥

उ०-उस के आत्मगुण होने से (आत्मा का) निषेध नहीं हो सकता॥ स्मृति कोई द्रव्य नहीं है, किन्तु वह आत्मा का एक गुण है, इस लिये उक्त आक्षेप युक्त नहीं है। जब स्मृति आत्मा का गुण है तभी तो अन्य के देखे का अन्य को स्मरण नहीं होता। यदि इन्द्रियों को चेतन मानोगे तो अनेक कर्त्ता होने से विषयों का प्रतिसन्धान न होसकेगा, जिस से विषयों की कोई व्यवस्था न रहेगी अर्थात् कोई देखेगा और कोई स्मरण करेगा और यह हो नहीं सकता। यह व्यवस्था तो तभी ठीक रह सकती है जब कि अनेक अर्थों का एक द्रष्टा भिन्न २ निमित्तों के योग से पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण करता हुवा इन्द्रियान्तरविकारों को उत्पन्न करता है, ऐसा माना जायगा। क्योंकि अनेक विषयों के द्रष्टा को ही दर्शन के प्रतिसन्धान से स्मृति का होना सिद्ध हो सकता है, अन्यथा विना आधार के स्मृति किस में रहे? इस के अतिरिक्त "मैं स्मरण करता हूं" यह प्रत्यय (जो विना किसी भेद के प्रत्येक मनुष्य को होता है) भी स्मृति का आत्मगुण होना सिद्ध करता है॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५ ॥

उ०-स्मृतिविषय का परिगणन न करने से भी (यह शङ्का उत्पन्न हुई है)॥ स्मृतिविषय के विस्तार और तत्व पर ध्यान न देकर प्रतिवादी ने यह आक्षेप किया है कि "स्मर्त्तव्य विषयों को स्मरण करना स्मृति का काम है" वास्तव में स्मृति का विषय बड़ा लम्बा और गहरा है। "मैंने इस अर्थ को

जाना, मुझ से यह अर्थ जाना गया, इस विषय में मुझ से जाना गया, इस विषय का मुझ को ज्ञान हुवा। यह जो चार प्रकार का परोक्ष ज्ञान है, यही स्मृति का मूल है, इस में सर्वत्र ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; इन तीनों की उपलब्धि होती है। अब प्रत्यक्ष अर्थ में जो स्मृति होती है उस से तीन प्रकार के ज्ञान एक ही अर्थ में उत्पन्न होते हैं। उदाहरण " जिस को मैंने पहिले देखा था, उसी को अब देख रहा हूं ", इस में दर्शन, ज्ञान और प्रत्यय; ये तीनों संयुक्त हैं। सो यह एक अर्थ तीन प्रकार के ज्ञानों से युक्त हुवा न तो अकर्तृक है और न नानाकर्तृक किन्तु एककर्तृक है, क्योंकि एक ही सब विषयों का ज्ञाता अपने सम्पूर्ण ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है। " इस अर्थ को जानूंगा, इस को जानता हूं, इसे जाना और अमुक अर्थ की जिज्ञासा करते हुवे बहुत काल तक न जानकर फिर मैंने जाना; इत्यादि ज्ञानों का निश्चय करता है। यदि इस को केवल संस्कारों का फैलाव मात्र ही माना जाय तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रथम तो संस्कार उत्पन्न होकर विलीन होजाते हैं, इस के अतिरिक्त कोई संस्कार ऐसा नहीं है जो तीनों काल के ज्ञान और स्मृति का अनुभव कर सके। विना अनुभव के "मैं और मेरा" यह ज्ञान और स्मृति का प्रतिसन्धान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इस से अनुमान किया जाता है कि एक सब विषयों का ज्ञाता "आत्मा" प्रत्येक देह में अपने ज्ञान और स्मृति के प्रबन्ध को फैलाता है, देहान्तर में उस की प्राप्ति न होने से उस के ज्ञान और स्मृति का प्रतिसन्धान हो नहीं सकता " ॥३॥

* न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात् ॥४॥ (४६०)

धर्मी के ग्राहक प्रमाण की बाधा से शिलापुत्र के समान (षष्ठीव्यपदेश) नहीं हो सकता ॥

जैसे ' शिलापुत्र का शिर ' इस में शिलापुत्र और उस के शिर में अवयवावयवीभाव सम्बन्ध को लेकर षष्ठी विभक्ति का व्यपदेश है, वैसे 'मेरा शरीर ' इस वाक्य में षष्ठी का व्यपदेश नहीं होसकता, क्योंकि शिलापुत्र (पत्थर के बने पुत्र=बच्चे) के धर्मी होने का कोई प्रमाण नहीं, परन्तु पुरुष के धर्मी होने में अनुमान और शब्द प्रमाण पाये जाते हैं। इसलिये पुरुष और देह के बीच की षष्ठी विभक्ति वैसी नहीं होसक्ती, जैसी कि शिलापुत्र

की षष्ठी होती है ॥ ४ ॥ यदि कहो कि पुरुष देहादि से भिन्न ही सही, परन्तु उस को कृतकृत्यता कैसे होगी ? तौ उत्तर-

*** अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता ॥ ५ ॥ (४६१)**

दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति से कृतकृत्यता (मोक्ष) है ॥ ५ ॥

यदि कहो कि क्या दुःखों की निवृत्ति से ही मोक्ष होजायगा, सुखों की प्राप्ति न होगी ? तौ उत्तर-

*** यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य, न तथा सुखादभिलाषः ॥ ६ ॥ (४६२)**

पुरुष को जैसा दुःख से क्लेश होता है, वैसा सुख से अभिलाष नहीं होता॥

यद्यपि पुरुष दुःख से बचना और सुख को पाना चाहता है तौ भी दुःख से बचने की जितनी और जैसी उत्कट कामना पुरुष को होती है, वैसी प्रबल उत्कट वा तीव्र कामना सुखों की नहीं होती। सुख शब्द से यहां इन्द्रियों के काम्य भोगों का ग्रहण है। क्योंकि विवेकी पुरुष इन्द्रियों के सुखों की क्षणभङ्गुरता, असारता और अन्त में दुःखदायिता को समझ लेता है, इस लिये उस को उन (सुखों) का अभिलाष वैसा तीव्र होता नहीं, जैसा कि दुःखों का क्लेश समझ पड़ता है ॥ ६ ॥ यदि कहो कि विवेकी पुरुष जब सुख को सुख नहीं समझता तौ विवेक ही क्या हुवा ? तौ उत्तर-

*** कुत्राऽपि कोऽपि सुखीति ॥ ७ ॥ (४६३)**

कहीं कोई ही सुखी होगा ॥

प्रथम तौ विवेकी यह देखता है कि कहीं ही कोई ही सुखी होगा, नहीं तौ बराबर यही देखा जाता है कि किसी को कोई दुःख है, किसी को कोई। सुखी तौ कोई विरला ही कहीं होगा ॥ ७ ॥ इस के अतिरिक्त-

*** तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः ॥ ८ ॥ (४६४)**

वह भी दुःख से सना (युक्त) है, इस लिये विवेकी जन उस को भी दुःखपक्ष में फेंकते हैं ॥

जो कुछ किसी को थोड़ा बहुत कहीं २ सुख है, वह भी निरा सुख नहीं, किन्तु दुःखमिश्रित है, इस कारण विवेकी लोग उस सुख को भी दुःख में ही गिनते हैं ॥ ८

योगदर्शन पाद २ सूत्र १५ में भी इसी विषय को पुष्ट किया गया है। पाठकों के विनोदाऽर्थ यहां उद्धृत करते हैं। यथा–

" परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥ (६६)

विवेकी को तो परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कार दुःख से तथा गुणवृत्तियों के (परस्पर) विरोध से सब दुःख ही है ॥

विवेकी जो सुख और दुःख को विचारदृष्टि से देखता है, उस को दुःख तो दुःख हैं ही, पर जो अन्य अविवेकियों को सुख जान पड़ते हैं, वे भी उस को दुःख ही जान पड़ते हैं। जैसे मकड़ी का नर्म=कोमल जाला छूने में हाथ को कैसा सुखस्पर्श मुलायम अच्छा जान पड़ता है, पर वही कोमल जाला आंख में गिर जावे तो आंख को खरदरा दुःखदायक और दुःखस्पर्श जान पड़ता है। नित्य सूखे चने चबाने वाले को कभी दाल रोटी मिल जावे तो बड़ी स्वाद जान पड़ती है, चाहे कितनी ही मोटी हो, परन्तु नित्य बारीक रोटी (फुलके) खाने वाले के हलक में वे भी प्रायः चुभते हैं। वैसे ही योगी, जो अन्य साधारणों से अत्यन्त सुकुमार (नाजुक) हो जाता है, वे भोग जो अन्य गंवारों को सुख जान पड़ते हैं, उस सुकुमार योगी को दुःख ही जान पड़ते हैं। यतः उन सुखों में भी एक तो परिणाम दुःख है। क्योंकि जितने पदार्थ संसार में सुखदायक हैं, सब परिणामी हैं, जो वर्त्तमान क्षण से अगले क्षण में वैसे न रहेंगे। कल्पना कीजिये कि हम को निर्मल वस्त्र पहरने में सुख होता है, परन्तु वस्त्र हर एक क्षण में कुछ मैला होता जाता है, क्योंकि वस्त्र की निर्मलता परिणामिनी (बदलने वाली) है। किसी एक सुरूपा युवति स्त्री के दर्शन स्पर्शन में सुख जान पड़ता है, परन्तु वृद्धा के में नहीं। पर युवाऽवस्था भी परिणामिनी है, जो क्षण २ में बुढ़ापे से बदलती है, बुढ़ापा दुःख है तो इस बुढ़ापे के परिणाम को जानने वाला कब युवावस्था में सुख मानेगा। यही अन्यसब पुण्यार्जित सुखभोगों की दुर्दशा है, इस लिये विवेकी पुरुष इसे दुःख ही समझता है ॥

दूसरा ताप दुःख–जो प्रत्येक सांसारिक सुख में मिला रहता है। क्योंकि सुख भोगते समय मनुष्य चाहता है कि यह मेरा सुख कभी भी विच्छिन्न (अलग) न हो, ऐसा सोच कर उस सुख के बाधक साधनों से द्वेष करता है,

द्वेष से चित्त को संताप होता है, सन्ताप स्वयं दुःख रूप है। इस लिये ताप दुःख के लगे रहने से भी विवेकी को सब दुःख ही जान पड़ता है॥

तीसरा संस्कार दुःख-क्यों कि सुख भोगने से सुख का संस्कार रहता है, संस्कार से उस की याद, याद से उस में राग (फंसना), राग से मन वचन देह की प्रवृत्ति, उस से कर्माशय और उस से दुःख का अनुभव, उस से फिर संस्कार, फिर याद, फिर राग, फिर प्रवृत्ति, फिर कर्माशय और फिर दुःख। इस प्रकार संस्कार चक्र के लौट पौट से विवेकी को सब दुःख ही प्रतीत होता है॥

इन परिणाम, ताप और संस्कार दुःखों के अतिरिक्त, गुणों की वृत्तियों के परस्पर विरोध से भी विवेकी को सब दुःख ही भान होता है। क्योंकि सत्व रज तम तीनों गुण एक दूसरे से कुछ विरोध ही रखते हैं और सत्व वा रज वा तम; इन में से किसी एक की प्रबलता से जब सुख जान पड़ता है, तब भी अन्य विरोधी गुणों की वृत्तियें अपना दबाव डालती रहती हैं, तो इस युद्ध (कश-मकश) में सुख कहां ? सत्व गुण शान्ति फैलाता है, तो राजस संग्राम अपनी घटा उठाते हैं और तामस मूढ़ता अपना बल उमड़ाती हैं। माना कि गुणों में से किसी को यत्नपूर्वक निर्बल किया जासके परन्तु तीनों में से किसी एक का भी जब तक संसार है, सर्वथा नाश संभव नहीं, अतएव सब संसार चाहे किसी को कितना ही सुखमय जान पड़े, पर विवेकी को निरा दुःखमय अनुभूत होता है। इस लिये क्लेशमूलक कर्माशय को त्यागना इष्ट है॥"

तथा न्यायदर्शन अध्याय १ आन्हिक १ सूत्र २१ में दुःख का लक्षण "बाधनालक्षणं दुःखम्" करके अध्याय ४ आन्हिक १ सूत्र ५५ में कहा है कि जन्म धारण करना ही दुःख है। यथा—

"विविधबाधनायोगाद्दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः" अनेक प्रकार की बाधनाओं के योग से जन्मोत्पत्ति दुःख ही है। चाहे संसार में जन्म लेकर कितने ही प्रकार के सुख भी देखे जाते हैं परन्तु वे सुख दुःख से रहित नहीं, किन्तु अनेक बाधाओं से युक्त हैं, अतएव विवेकी की दृष्टि में सब दुःख ही हैं॥ इसी प्रकार गीता में कहा है। यथा—

"ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः" ॥५।२२॥

हे अर्जुन! जो विषयों के स्पर्श से उत्पन्न भोग (सुख) हैं, वे आदि अन्त वाले और दुःखमूल ही हैं। इस कारण विवेकी उन में नहीं रमता॥८॥

* सुखलाभाऽभावादऽपुरुषार्थत्वमिति चेन्न, द्वैविध्यात् ॥ ९ ॥ (४६५)

यदि (कहो कि) सुखलाभ के अभाव से (मुक्ति में) पुरुषार्थता नहीं, सो नहीं, क्योंकि (सुख) दो प्रकार का है ॥

यदि कहो कि पूर्वसूत्रानुसार सब सुख भी दुःख ही हैं तो कहना पड़ेगा कि मुक्ति में भी सुख नहीं, यदि मुक्ति में सुख मानें और सुख समस्त ही दुःखरूप हुवे तो विवेकी की दृष्टि में मुक्ति में भी दुःख हुवा, और यदि कहो कि केवल दुःखनिवृत्ति ही मुक्ति में होती है, कोई सुख नहीं होता, तो मुक्ति को 'पुरुषार्थता' न रहेगी, क्योंकि पुरुष को उस में कोई लाभ तो हुवा ही नहीं। उत्तर–सुख दो प्रकार के हैं। १–सांसारिक विषयभोगों के सुख। २–ब्रह्मानन्द का सुख। इन दोनों में से इन्द्रियोपभोग्य सांसारिक सुख तो वस्तुगत्या दुःखरूप ही हैं, परन्तु ब्रह्मानन्द का सुख इन्द्रियोपभोग्य नहीं, दुःख मिश्रित नहीं, वह केवल आनन्द है, अतएव उस को अपुरुषार्थ नहीं कह सकते। "सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"–तैत्तिरीयोपनिषद् ब्र० व० अनु० १ तथा "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" अनु० ९ इत्यादि प्रमाणों से मुक्ति में ब्रह्मानन्द का पाना सिद्ध है, न कि केवल दुःखनिवृत्ति ही मुक्ति है। यदि कहो कि तो सांख्याचार्य ने त्रिविधदुःखात्यन्तनि०" सूत्र १ में केवल दुःखनिवृत्ति का नाम मोक्ष वा परमपुरुषार्थ क्यों रक्खा और न्यायाचार्य गोतम जी ने "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" १।१।२२ में दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का नाम मोक्ष वा अपवर्ग क्यों कहा? इस का उत्तर यह है कि दुःखों के निवारणार्थ ही परमपुरुषार्थ कर्तव्य है। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिये कोई पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता, वह तो आप ही आप मिलता है। जैसे श्वास के साथ अपने आप ही वायु प्राप्त होता है। जिस प्रकार अन्न को चबाते, जल को निगलते हैं, यत्न करते हैं, इस प्रकार ब्रह्मानन्द के लाभाऽर्थ यत्न नहीं करना पड़ता, किन्तु जहां त्रिविधदुःख अत्यन्त निवृत्त हुवे, तत्काल ब्रह्मानन्द अयत्नलब्ध होने लगता है। इस कारण मोक्ष के लक्षण में इस को विवक्षा नहीं थी ॥ ९ ॥ शङ्का—

* निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गत्वादिश्रुतेः ॥ १० ॥ (४६६)

असङ्गत्वादि श्रुति से आत्मा का (तो) निर्गुणत्व है?

"असंगोह्ययं पुरुषः" बृहदारण्यक अ० ५ ब्रा० ३-१५ इत्यादि श्रुतियों से आत्मा वा पुरुष असङ्ग सिद्ध है। असङ्ग में कोई गुण नहीं होता, निर्गुण में दुःख स्वतः नहीं, फिर दुःखनिवृत्ति का यत्न व्यर्थ क्यों नहीं है? ॥१०॥ उत्तर-

* परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ॥ ११ ॥ (४६७)

परधर्म होने पर भी अविवेक से उस (दुःख) की सिद्धि है ॥

यद्यपि सुख दुःखादि पराये (बुद्धि के) धर्म हैं, पुरुष के नहीं, पुरुष असङ्ग निर्गुण है, तथापि अविवेक (प्रकृति पुरुष में विवेकाऽभाव) से पुरुष में सुख दुःखादि आरोपित होजाते हैं, उन्हीं की निवृत्ति जो विवेक से होती है, उस का यत्न करना पुरुषार्थ है ॥ इस विषय में अनेक वाक्य ऐसे भी पाये जाते हैं, जो आत्मा के गुणों का कथन करते हैं। यथा-१-"दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शुचिरनायासो माङ्गल्यमकार्पण्यमस्पृहा चेत्यऽष्टावात्मगुणाः" गीता २। १ पर शङ्करानन्द। इस में दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, माङ्गल्य, अकार्पण्य, अस्पृहा ये ८ आत्मा के गुण कहे हैं ॥

२-"बहु श्रुतं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसंपदः ॥"

महाभारत शान्ति पर्व अध्याय १५५। इस में भी बहुश्रुतत्व, तप, त्याग, श्रद्धा, यज्ञ करना, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य और संयम को आत्मा की संपदा कहा है ॥ तथा—

३-"प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि" ॥ वैशेषिक ३। २। ४

इस में भी प्राण अपान इत्यादि आत्मा के चिह्न बताये गये हैं ॥ और-

४-"इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्" ॥ न्यायद० १। १। १०

इस में भी इच्छा द्वेषादि आत्मा के चिह्न वर्णित हैं ॥ अथ च—

५-"इस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः" ॥ न्यायद० ३। २। ३६ तथा—

६—" स्मरणं स्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् " ॥३।१।४३॥

इन सूत्रों में भी इच्छा, द्वेष, स्मरण को आत्मा के धर्म कहा है ॥

उत्तर—जहां २ आत्मा के गुण स्वभाव चिह्न आदि कहे हैं वे ज्ञान वा चैतन्य को छोड़ कर अन्य सब गुण अन्तःकरणाऽवच्छिन्न आत्मा के हैं, केवल के नहीं। प्राण, अपान, मनोगति, इन्द्रियान्तरविकार, तप, त्याग, यज्ञ-क्रिया, निमेष, उन्मेष इत्यादि धर्म तौ प्रत्यक्ष ही सब जानते हैं कि मन इन्द्रियां और देह के साथ से हैं, शेष सत्य क्षमा दया आदि भी प्रकृति के सम्बन्ध से हैं, केवल आत्मा के नहीं। जब कि प्रकृति के विना केवल पुरुष (परमात्मा) में भी जगदुत्पादनादि नहीं घट सकते, तब बेचारे जीव में प्राकृत मन आदि के विना उक्त गुण वा चिह्न कहां रह सक्ते हैं। पृथिव्यादि के गन्धादि गुणों को छोड़ कर आत्मा की चेतन मात्र सत्ता में उक्त गुण संभव नहीं। इसी कारण श्रुत्यादि आत्मा के नैर्गुण्य को प्रकट करती हैं तथा असङ्गता प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार इन सूत्रों में यह कहा गया है कि स्वरूप से ही आत्मा के निर्गुण होने और असङ्ग होने से सुख दुःख का लेप अपने आप ही नहीं, तथापि उन की निवृत्ति का उपाय (विवेक) आवश्यक है ॥ ११ ॥

यदि कहो कि पुरुष में अविवेक कहां से कब से और क्यों आया? तौ उत्तर—

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः ॥ १२ ॥ (४६८)

अविवेक अनादि है, नहीं तौ दो दोष आवेंगे ॥

यदि विवेक को अनादि न माना जावे तौ दो दोष आवेंगे। १—यह कि अविवेक की उत्पत्ति मानें तौ अविवेकोत्पत्ति का कारण अन्य कुछ, उसका अन्य कुछ, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। २—यह कि यदि अकारण ही अविवेक हो जाता हो तौ मुक्त पुरुष को भी अकस्मात् अविवेक होकर बन्ध दोष आवेगा। अस्मात् यही ठीक है कि अविवेक जीव की अल्पज्ञता से उस में अनादि है ॥ १२ ॥

* न नित्यः स्यादात्मवदऽन्यथाऽनुच्छित्तेः ॥ १३ ॥ (४६९)

(अनादि भी अविवेक) नित्य नहीं है, अन्यथा आत्मा के समान उस का उच्छेद (नाश) न होगा ॥

अविवेक अनादि है सही, परन्तु नित्य नहीं है। यदि आत्मा की नित्यता के समान अविवेक भी नित्य (अविनाशी) होता तो जैसे नित्य आत्मा का नाश नहीं, इसी प्रकार नित्य अविवेक का नाश न होता। अविवेक का नाश न होता तो मुक्ति नहीं हो सकती। मुक्ति होती है, अविवेक का नाश भी होता है, अतः उस को नित्य नहीं कह सकते ॥ १३ ॥

यदि कहो कि इस अविवेक के नाश का कारण क्या है? तो उत्तर-

*** प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ॥ १४ ॥ (४७०)**

इस (अविवेक) नाश का प्रति नियत कारण (विवेक) है, जैसे अन्धकार (के नाश का कारण प्रकाश) ॥

अविवेक के नाश का नियत कारण उस का प्रतिद्वन्द्वी विवेक है, जिस प्रकार अन्धकार के नाश का नियत प्रतिद्वन्द्वी कारण प्रकाश है ॥ १४ ॥

*** अत्राऽपि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ॥ १५ ॥ (४७१)**

इस में भी अन्वयव्यतिरेक से प्रतिनियम है ॥

जिस प्रकार अन्वयव्यक्तिरेक (एक में दूसरे के न समाने) से अन्धकार के साथ प्रकाश का प्रतिनियम (विरोध का नियम) है, इसी प्रकार अविवेक के साथ विवेक का विरोध नियम है ॥ १५ ॥

*** प्रकारान्तराऽसंभवादविवेक एव बन्धः ॥ १६ ॥ (४७२)**

अन्य प्रकार संभव न होने से अविवेक ही बन्ध है ॥ १६ ॥

*** न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः ॥ १७ ॥ (४७३)**

मुक्त को फिर बन्ध का योग नहीं, क्योंकि अनावृत्ति सुनते हैं ॥

अनावृत्ति का अर्थ साऽपेक्ष है। जिस प्रकार अन्य जीव जन्म मरण को प्राप्त हैं, इसी प्रकार शीघ्र मुक्त पुरुष बन्ध को प्राप्त नहीं होता। इस पर विशेष विचार यह है। पूर्व पक्ष-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ १॥ मुण्ड०॥ यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय

निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥२॥ तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥ मुण्ड०॥३॥एषआत्माऽपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ॥४॥ न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते ॥ छां० ॥ अपहतपाप्माऽभयं रूपम् ॥ बृहदारण्यके ॥५॥ ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ६ ॥ ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः ॥ श्वेताश्वतरे ॥ ७ ॥

परमात्मा के साक्षात् होने पर हृदय की ग्रन्थि भिन्न, सर्वसंशय छिन्न और कर्म क्षीण होजाते हैं ॥ १ ॥ जब जो पुरुष ज्योतिःस्वरूप, जगत्कर्त्ता, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, जगन्निमित्तकारण, ब्रह्म को साक्षात् करता है तब वह विद्वान् पुरुष, अविद्यारहित, पुण्य पापों से छूट कर अत्यन्त समता को प्राप्त हो जाता है ॥२॥ अमृत पुरुष शोक और पाप तथा हृदय की ग्रन्थियों से छूट जाता है ॥ ३ ॥ यह मुक्तात्मा पाप, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, भूख, प्यास से रहित होजाता है और सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प हो जाता है ॥ ४ ॥ मुक्तात्मा को न बुढ़ापा, न मृत्यु, न शोक, न पुण्य, न पाप होते हैं। सब पाप उस से पृथक् हो जाते हैं ॥ वह पापरहित अभय स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥५॥ परमात्मा को जान कर सब बन्धनों से छूट जाता है ॥ ६ ॥ परमात्मा को जान कर सम्पूर्ण बन्धन दूर हो जाते हैं ॥ ७ ॥ फिर बन्ध क्यों ?

उत्तर–प्रथम तो इन प्रमाणों में १, २, ३, ४, ५ केवल इन संख्याओं में ही पापों या पाप पुण्य दोनों से पृथक् होना लिखा है। शेष दो प्रमाणों में पाप पुण्यों से पृथक् होने का वर्णन भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि पाप पुण्य से पृथक् होने का तात्पर्य यही है कि मुक्तात्माओं को मोक्षावस्थापर्यन्त पाप पुण्य अपना फल नहीं कर सकते। तीसरी बात यह है कि पाप पुण्यों की "क्षीणता" का अर्थ पाप पुण्यों का "अभाव" नहीं है। यदि लोग क्षीण और अभाव का एक ही अर्थ मानते हैं तो क्या जब एक पुरुष को कहा जाता है कि उस का धातु "क्षीण" है तब क्या यह समझा जाता है कि उस का धातु "नहीं" है ? किन्तु यही समझा जाता है कि उस का धातु "निर्बल" है। इसी प्रकार मुक्तात्माओं के कर्म भी "क्षीण"

अर्थात् ज्ञान और उपासना की अपेक्षा से " निर्बल " होजाते हैं। परन्तु जब जीवात्मा की सान्त उपासना और सान्त ज्ञान का फल मोक्ष अपनी अवधि को पहुंच जाता है और समाप्त हो जाता है, तब वे ही कर्म जो कि पूर्व ज्ञान और उपासना के बल से दूर हट गये थे, मोक्षावधि समाप्त होने पर जन्म का हेतु हो सकते हैं। और कर्मों के " नाश " का तात्पर्य भी " अभाव " नहीं है, क्योंकि नाश शब्द " णश अदर्शने " धातु से बना है, इस लिये " नाश " का अर्थ ' तिरोभावमात्र ' है। और पुण्य पापों से दूर होजाने का तात्पर्य भी पुण्य पापों का " अभाव " नहीं है, किन्तु इतना ही तात्पर्य है कि पुण्य पापों का प्रभाव मुक्तात्मा पर नहीं होता। पुण्य पापों से छूटने का भी तात्पर्य पुण्य पापों का " अभाव " नहीं है, जैसे कि कारागार से छूटने का तात्पर्य कारागार का " अभाव " नहीं है॥

प्र०—वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥१॥ गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥२॥ यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥३॥ मुण्ड०॥

अर्थ—(वेदान्त०) वेदान्त के विज्ञान से जिन्हों ने तत्त्वार्थ जान लिया ऐसे (शुद्धसत्त्वाः) रजोगुण और तमोगुण से वर्जित (यतयः) यती लोग (संन्यासयोगात्) संन्यास के योगबल से (परामृताः) मोक्ष को प्राप्त हुवे (ब्रह्मलोकेषु) ब्रह्मलोकों अर्थात् मुक्तावस्थाओं में [निवास करते हैं]। (ते सर्वे) और वे सब मुक्तात्मा (परान्तकाले) ब्राह्म महाकल्प पर (परिमुच्यन्ति) वर्ज दिये जाते हैं। पाणिनि के ८।१।५ सूत्र (परेर्वर्जने) पर—

* परेर्वर्जने वा वचनम् *

यह वार्तिक किया है। सूत्र और वार्तिक दोनों से " परि " उपसर्ग को " वर्जन " अर्थ स्पष्ट पाया जाता है और वार्तिककार ने द्विर्वचन का भी

विकल्प कर दिया है इस लिये यह शङ्का भी जाती रही कि "वर्जन" अर्थ में यहां " परि " शब्द को द्विर्वचन क्यों नहीं हुवा ॥ १ ॥ (गताः कलाः०) मुक्ति को प्राप्त होने वालों की प्राणश्रद्धादि १५ कलायें और इन्द्रियां सब अपनी २ अधिष्ठातृदेवताओं में लीन होजाती हैं, अर्थात् कार्य शरीर का कारण में लय हो जाता है। और (कर्माणि) क्षीण हुवे कर्म (एकीभवन्ति) इकट्ठे होजाते हैं, अर्थात् उपासना और ज्ञान से दब कर मोक्षावस्थापर्यन्त फलोन्मुख तो नहीं हो सकते, किन्तु "इकट्ठे" रहते हैं अर्थात परमात्मा के यहां (डिपाज़िट=अमानत) धरोहर=निक्षेप में रहते हैं, जिन के अनुसार मोक्षावधि समाप्त होने पर फिर जन्म होवेगा। (विज्ञानमयश्च आत्मा) और मन भी (परे अव्यये) अविनाशी परम कारण में लीन होजाता है। (सर्वे) इस प्रकार सब कारण में लीन होजाते हैं ॥ २॥ (यथानद्यः०) जिस प्रकार नदियें चलती २ अपने २ भिन्न २ गङ्गादि नामों और श्वेतकृष्णादि रूपोंको छोड़ कर समुद्र में (अस्तं गच्छन्ति) छिप जाती हैं। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष देवदत्तादि नाम और गौर कृष्णादि रूप से छूट कर (परात्परम्) पर=प्रकृति से भी पर (दिव्यं पुरुषम्) दिव्य परमात्मा के (उपैति) समीप चला जाता है ॥ ३ ॥

कोई २ लोग ऐसा भ्रम करते हैं कि जैसे नदी समुद्र में मिल कर समुद्र होजाती हैं तद्वत् जीवात्मा भी ब्रह्म में मिल कर ब्रह्म होजाता है। परन्तु दृष्टान्त का एक देश ही ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् जैसे नदियों के नाम और रूप समुद्र में मिलने पर भिन्न नहीं रहते, वैसे ही जीवात्माओं के भी देह के साथ से जो नाम और रूप पूर्व थे, वे मुक्ति में नहीं रहते। इस दृष्टान्त को सर्वदेशीय मानना असंगत है। क्योंकि यदि सर्वदेशीय दृष्टान्त मानें तो जैसे समुद्र एकदेशीय है और सर्वव्यापक नहीं है, ऐसे ही परमात्मा को भी एकदेशीय मानना पड़े। तथा जैसे समुद्र से नदियें मिलने से पहले भिन्न देश में थीं ऐसे ही जीवात्माओं को भी मुक्ति से पहले ब्रह्म की व्यापकता से बाहर मानना पड़े, जो कि सर्वथा असंगत है ॥ १७ ॥

*** अपुरुषार्थत्वमन्यथा ॥ १८ ॥ (४७४)**

नहीं तो पुरुषार्थत्व न रहेगा ॥

यदि मुक्त पुरुष को भी इतर साधारण जीवों के समान शीघ्र पुनर्जन्म होजावे तो मुक्ति का नाम पुरुषार्थ ही क्या रहै ॥ १८ ॥ किन्तु-

*** अविशेषापत्तिरुभयोः ॥ १९ ॥ (४७५)**

दोनों (बद्ध और मुक्त में) अविशेष आपत्ति होगी ॥

अर्थात् मुक्त और बद्ध में कोई विशेष (भेद) न रहेगा ॥ १९ ॥

*** मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ॥ २० ॥ (४७६)**

अन्तरायनाश से भिन्न मुक्ति नहीं है ॥

अन्तराय विघ्न बाधा दुःख इत्यादि पदवाच्य क्लेशों के नाश को ही मुक्ति कहते हैं, इस से पर (अन्य) कोई मुक्ति पदार्थ नहीं है ॥ २० ॥

*** तत्राऽप्यऽविरोधः ॥ २१ ॥ (४७७)**

उस (दुःखनाश को मुक्ति मानने) में भी विरोध नहीं ॥

प्रथम सूत्र में त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को परम पुरुषार्थ कह आये हैं उस में और यहां के कथन में कोई विरोध नहीं है । किन्तु उसी बात को प्रसंगवश दृढ करते हुवे अन्य शब्दों में कहा गया है ॥ २१ ॥

प्रश्न—यदि अविवेक के नष्ट होते ही मुक्ति हो तो श्रवणमात्र से सब ही मुक्त होजावें ? उत्तर—

*** अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥ २२ ॥ (४७८)**

तीन प्रकार के अधिकारी होने से नियम नहीं ॥

उत्तम मध्यम अधम भेद से ३ प्रकार के अधिकारी होते हैं, उन में से उत्तम अधिकारी तो श्रवणमात्र से अविवेक को दूर करके मुक्त हो सकते हैं, सब नहीं ॥ २२ ॥

*** दाढर्यार्थमुत्तरेषाम् ॥ २३ ॥ (४७९)**

दृढता के लिये अगलों की (आवश्यकता है) ॥

जो उत्तम अधिकारी हैं उन को भी श्रवणमात्र से उत्पन्न विवेकलाभ की दृढता के लिये श्रवण से अगले मनन निदिध्यासनादिकों की दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक नियम से अनुष्ठान करने की आवश्यकता है ॥ २३ ॥

*** स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ॥ २४ ॥ (४८०)**

यह नियम नहीं है कि स्थिरसुख नामक ही एक आसन है ॥

किन्तु अनेक प्रकार के यथेष्ट आसन लगा कर ध्यानादि कर सकते हैं ॥ २४ ॥

* ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ २५ ॥ (४८१)

मन को (अन्य) विषयों से रहित करना ध्यान कहाता है ॥

जब कि आत्मा के अतिरिक्त मन को कोई अन्य विषय न रहे उस को ध्यान वा योग वा समाधि कुछ कहिये सब एक बात है ॥

यद्यपि ३ । ३० (२४१) में पहले कह आये हैं कि "रागोपहतिर्ध्यानम्" राग के नाश को ध्यान कहते हैं, तथापि यहां प्रसंगवश उसी बात को अन्य शब्दों में "ध्यानं निर्विषयं मनः" द्वारा कहा गया है ॥ यही विषय न्याय दर्शन अध्याय ४ आन्हिक २ में वर्णित है । यथा—

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८ ॥

समाधिविशेष के अभ्यास से (तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है) ॥ इन्द्रियों के अर्थों से हटाये हुवे मन को धारक प्रयत्न के द्वारा आत्मा में लगाने का नाम समाधि है, उस समाधि के अभ्यास से तत्त्वबुद्धि उत्पन्न होती है, जिस से चित्त के मल विक्षेप और आवरण दूर होकर आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान होता है । आगे के दो सूत्रों से पूर्वपक्ष लेकर शङ्का की गई है कि—

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९ ॥

क्षुदादिभिःप्रवर्त्तनाच्च ॥ ४० ॥

पू०-अर्थ विशेषों की प्रबलता से तथा भूख आदि की प्रवृत्ति से (समाधि) नहीं हो सकती ॥ इन्द्रियों के अर्थ ऐसे प्रबल हैं कि जो उन को ग्रहण करना नहीं चाहता वह भी उन से बच नहीं सकता । यदि किसी प्रकार कोई कृत्रिम दृश्यों से अपने मन को हटा भी लेवे (यद्यपि यह भी दुष्कर है) तथापि स्वाभाविक दृश्यों से तो वह किसी प्रकार नहीं बच सकता । भूख, प्यास, शीत, आतप और रोग आदि ही उस के मन को चलायमान करने के लिये पर्याप्त हैं, इस दशा में समाधि की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ? आगे इस का समाधान किया है—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ४१ ॥

उ०-पूर्वकृत फल के लगाव से उस (समाधि) की उत्पत्ति होती है ॥ समाधि की सिद्धि कुछ एक ही जन्म के अभ्यास से नहीं होती किन्तु अनेक जन्मों के शुभसंस्कार और अभ्यास इस में कारण हैं । यदि अभ्यास निष्फल होता तो लोक में उस का इतना आदर न किया जाता । जब लौकिक कार्यों

के भी विघ्नों को दूर करने की शक्ति अभ्यास में है, तब पारमार्थिक कार्यों में इस की शक्ति क्योंकर कुण्ठित हो सकती है ? आगे योगाभ्यास का स्थान बतलाया है:-

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२ ॥

वन, गुफा और नदीतीर आदि स्थानों में योगाभ्यास का उपदेश (किया जाता है) ॥ विविक्त स्थानों में ही योग का अभ्यास हो सकता है, जब पूर्व संस्कार और वर्त्तमान के अभ्यास से तत्त्वज्ञान की उत्कट जिज्ञासा होती है तब समाधि भावना के बढ़ने से योग की सिद्धि होती है ॥ आगे शङ्का करते हैं:-

अपवर्गेऽप्येवंप्रसङ्गः ॥ ४३ ॥

मोक्ष में भी ऐसा ही प्रसङ्ग होगा ॥ जैसे लोक में कोई अपने को बाह्य अर्थों से नहीं बचा सकता, ऐसे ही मोक्ष में भी इन्द्रिय अर्थों से संयुक्त होकर बुद्धि को विचलित करेंगे ॥ आगे दो सूत्रों से इस का समाधान करते हैं:-

न, निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४४ ॥

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५ ॥

शरीरादि में (तो) बाह्यज्ञान के अवश्यम्भावी होने से ऐसा नहीं हो सकता, परन्तु अपवर्ग में तो उस (शरीर) का अभाव हो जाता है ॥ इन दोनों सूत्रों का तात्पर्य यह है कि शरीरादि के होते हुवे तो कोई अपने को सर्वथा बाह्य ज्ञान की उपलब्धि से नहीं बचा सकता । परन्तु मोक्ष में तो इस स्थूल शरीर का, जो चेष्टा और इन्द्रियार्थों का आयतन है, अभाव हो जाता है, अतएव मोक्ष में इन का प्रसङ्ग नहीं होसकता क्योंकि जब आधार ही नहीं तो आधेय कहां रह सकता है ॥ आगे मोक्षप्राप्ति के साधन दिखलाते हैं:-

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारोयोगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः॥४६॥

उ०-उस (मोक्ष) के लिये यम और नियमों से तथा अध्यात्मविधि के उपायों द्वारा योग से आत्मा का संस्कार करना चाहिये ॥ योग के आठ अङ्ग हैं, जिन का निरूपण योग शास्त्र के साधन पाद में किया गया है, उन में से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; ये पांच यम=पहिला अङ्ग हैं और शौच, सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान; ये पांच नियम दूसरा अङ्ग कहलाते हैं । मुमुक्षु को प्रथम इन के सेवन से आत्मा का संस्कार करना चाहिये अर्थात् योग के प्रतिबन्धक=मल, विक्षेप और आवरण को दूर

करना चाहिये। तत्पश्चात् योग अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि से अध्यात्मतत्त्व को प्राप्त होना चाहिये॥ प्र० मुमुक्षु को फिर क्या करना चाहिये ?

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥ ४७ ॥

उ०—ज्ञान के ग्रहण का अभ्यास और उस के जानने वालों के साथ संवाद॥ उक्त साधनों के अतिरिक्त मोक्ष की प्राप्ति के लिये मुमुक्षु को अध्ययन, श्रवण और मनन के द्वारा तत्त्वज्ञान का निरन्तर अभ्यास और बुद्धि के परिपाक के लिये तत्त्वज्ञानियों के साथ संवाद भी करना चाहिये क्योंकि विना अभ्यास के ज्ञान की वृद्धि और विना संवाद के बुद्धि की परिपक्वता और सन्देहों की निवृत्ति नहीं हो सकती॥ आगे संवाद का प्रकार दिखलाते हैं:—

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयो-
ऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात् ॥ ४८ ॥

उस (आत्मज्ञ) को विशिष्ट ज्ञानी, श्रेयोऽर्थी और निन्दारहित शिष्य, गुरु और सहाध्यायी के द्वारा प्राप्त करे॥ विना आत्मतत्त्ववित् आचार्य की दीक्षा के कोई आत्मज्ञान का लाभ नहीं कर सकता अतएव अनिन्दित गुरु, शिष्य और सहाध्यायियों के साथ ऐसे आचार्य की सेवा में विनीत भाव से जाना चाहिये। उपनिषद् भी कहती है—सगुरुमेवाभिगच्छेत्"'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। इत्यादि॥ २३॥

यदि कहो कि आत्मा को एकरस होने से ध्यान और विना ध्यान में कोई अन्तर तो है ही नहीं, फिर ध्यान का क्या फल है ? तो उत्तर—

उभयथाऽप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः॥२६॥ (४८२)

"दोनों प्रकार ही (ध्यान और विना ध्यान में) विशेष नहीं" यह पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि उपराग के रुक जाने से विशेष है॥

ध्यान समय में उपराग नहीं रहता और विना ध्यान के आत्मा वा पुरुष पर उपराग (बाह्य पदार्थों की छाया) रहती है, इस लिये अध्यान से ध्यान में विशेषता है॥ २६॥

यदि कहो कि निःसङ्ग पुरुष में उपराग कहां से आया ? तो उत्तर—

* निस्सङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात्॥ २७॥ (४८३)

निस्सङ्ग (पुरुष) में भी अविवेक से उपराग है॥ २७॥

* जवास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः ॥२८॥ (४८४)

जवा और स्फटिक के सा उपराग नहीं, किन्तु अभिमान (रूप उपराग) है॥

चेतन आत्मा वा पुरुष में अन्य जड़ पदार्थों की छाया वा उपराग ऐसे नहीं होता है, जैसे जवा के रक्त पुष्प की छाया उज्ज्वल स्फटिक (बिल्लौर) पत्थर पर पड़ती है, किन्तु बुद्धितत्त्व में व्याप्य व्यापक तद्दात्मता से बुद्धिसत्त्व की वासना पुरुष में अभिमत होती है। इस अभिमान को ही उपराग वा छाया कहा जाता है ॥ २८ ॥

* ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥ २९ ॥ (४८५)

ध्यान, धारणा, अभ्यास और वैराग्यादि से उस (उपराग वा छाया वा अभिमान) का निरोध होता है ॥

यही विषय इसी प्रकार ऊपर कहे न्यायशास्त्र के मत से संमत है, सो दिखाया गया। योगशास्त्र में भी यही कहा गया है। यथा–

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

(वार २ रोकने के) अभ्यास और वैराग्य से उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध होता है ॥ चित्तवृत्ति एक नदी के समान हैं, जिस की दो धारें हैं– पुण्य और पाप। दो स्थानों को वे दो धारें बहती है। जो कैवल्य रूप ऊपर के बोझ वा दवाव से विवेकरूप नीचे देश में बहती है, वह पुण्य स्थान को बहती है और जो संसाररूप ऊपर के बोझ वा दवाव से अविवेकरूप नीचे देश में बहती है वह पाप स्थान को बहती है। इस लिये वार २ अभ्यास करके और पापवहा धारा के परिणाम दुःखभोगों और मलिनताओं के विचार करने से उत्पन्न वैराग्य द्वारा इन का निरोध करना चाहिये। वैराग्य से विषय का स्रोत बन्द किया जाता है और विवेकोत्पादक शास्त्रों के अभ्यास से विवेक स्रोत को उघाड़ा जाता है, इन दोनों के अधीन चित्तवृत्तिनिरोध है। अभ्यास और वैराग्य का अर्थ बताने को अगले ये सूत्र हैं:–

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

उन (अभ्यास वैराग्य दोनों) में से ठहराव का यत्न करना अभ्यास कहाता है ॥ वृत्तिरहित चित्त का ठहराव स्थिति कहाता है, उस स्थिति के लिये यत्न पुरुषार्थ उत्साह (हिम्मत) करना अर्थात् स्थिति के संपादन करने की इच्छा से उस स्थिति के साधनों का अनुष्ठान (अमल) करना, यह अभ्यास

है। आगे अगले सूत्र में अभ्यास की रीति और दृढ़ता संपादन करना बताते हैं-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

और वह (अभ्यास) बहुत काल तक लगातार भले प्रकार सेवन करने से दृढ़-भूमि हो जाता (जड़ पकड़ जाता) है ॥ बहुत कालपर्यन्त लगातार तप, ब्रह्मचर्य, विद्या, श्रद्धा आदि सत्कारपूर्वक अभ्यास दृढ़ हो जाता है ॥ बार २ अभ्यास और इतर पदार्थों से वैराग्य (अप्रीति) वा अलिप्तता होने से मन एकाग्र होता है ॥

तथा योगदर्शन १ । २३ ईश्वरप्रणिधानाद्वा, १ । ३७ वीतरागविषयं वा चित्तम्, १ । ३९ यथाभिमतध्यानाद्वा, इत्यादि सूत्रों में भी इन्हीं ध्यान अभ्यासादि से तत्त्वज्ञान वा विवेकज्ञान होना कहा गया है ॥

तथा गीता अध्याय ६ में भी ध्यान योग द्वारा तत्त्वज्ञान का वर्णन है। यथा-

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चाऽनवलोकयन् ॥ १३ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नाऽवबोधस्य योगोभवति दुःखहा ॥ १७ ॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवाऽवतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्योयुक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतोयोगमात्मनः ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि दुःखं स योगी परमोमतः॥ ३० ॥

तथा च यजुर्वेदे-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ४०।६॥

अर्थ-योगी को चाहिये कि एकान्त वास करता हुवा, एकला, चित्त और मन का वश में करने वाला, इच्छाओं का त्याग करता हुवा, आवश्यकता का घटाने वाला होकर निरन्तर आत्मा को (परमात्मा में) लगावे ॥ १० ॥ शुद्ध देश में न बहुत ऊंचा, न बहुत नीचा, वस्त्र वा चर्म वा कुशों का बना अपना स्थिर आसन स्थापित करके ॥११॥ चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं का संयम करके उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग को सिद्ध करे ॥ १२ ॥ (तब) देह, शिर, ग्रीवा को सीधा अचल रक्खे, स्थिर रहे, अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर और दिशाओं को न देखता हुवा रहे ॥ १३ ॥ हे अर्जुन ! न तो अति भोजन करने वाले को योग सिद्ध होता, न एकाएक भोजन न करने वाले को, और न बहुत सोने वाले को और न (बहुत) जागने वाले को ॥ १६ ॥ (किन्तु) उचित आहार विहार वाले, कर्मों में उचित चेष्टा रखने वाले, उचित निद्रा और जागरण वाले को योगसाधन दुःख नाश करने वाला है ॥ १७ ॥ जब कि वश में किया हुवा चित्त आपे में ही स्थिर हो जाता है और समस्त कामनाओं से इच्छारहित हो जाता है तब ' युक्त ' कहा जाता है ॥ १८ ॥ जैसे वायुवेगरहित स्थान में स्थित दीपक हिलता नहीं है, वही यतचित्त, अपने योग को साधते हुवे योगी की उपमा मानी जाती है ॥ १९ ॥ जिस दशा में कि योगसेवन से रुका हुवा चित्त उपराम को प्राप्त होजाता है और जब कि आत्मा से आत्मा को ही देखता हुवा आत्मा में संतुष्ट होजाता है ॥२०॥ उस सुख को जानता है जो कि बुद्धि से ग्रहण करने योग्य है, जो इन्द्रियों से परे है और आत्यन्तिक है=जिस का अन्त नहीं, जिस (सुख) में स्थिर हुवा यह (योगी) तत्त्व से नहीं विचलता ॥ २१ ॥ और जिस को पाकर अन्य लाभ को उस से अधिक नहीं मानता और जिस (सुख) में ठहरा हुवा किसी भारी दुःख से भी विचःला नहीं जा सकता ॥२२॥ दुःखसंयोगरहित उस (सुख) की योग संज्ञा जाने, वह योग एकाग्र चित्त से निश्चय करके साधना चाहिये ॥ २३ ॥ सङ्कल्पोत्पन्न सब कामनाओं को निःशेष त्याग कर मन से ही इन्द्रियों के समूह को सब ओर से रोक कर ॥ २४ ॥ धैर्य से पकड़ी हुई बुद्धि से शनैः २ उपराम को प्राप्त होवे और मन को आपे में स्थित करके कुछ भी चिन्तन न करे ॥२५॥ चञ्चल, न ठहरने वाला मन जिधर २ को भागे, उधर २ से रोककर इस को आपे में ही वश्य करे ॥ २६ ॥ इस

प्रकार आपे को सदा साधता हुवा योगी निष्पाप हुवा सुगमता से ब्रह्म के संयोगरूप अत्यन्त सुख को भोगता है ॥ २८ ॥ जिस का आत्मा योगयुक्त है, वह सर्वत्र समदर्शी हुवा सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को स्थित देखने लगता है ॥ २९ ॥ हे अर्जुन ! जो कोई अपनी उपमा से सर्वत्र समान देखता है, चाहे सुख हो, चाहे दुःख, वह परमयोगी माना जाता है ॥३०॥

इसी प्रकार यजुर्वेद ४० । ६ में कहा है कि " जो कोई आत्मा में ही सब भूतों को अनु (प्रोत) देखता है और सब भूतों में आत्मा को, तब फिर संशय नहीं करता ॥ अनु शब्द से यह भ्रम नहीं हो सकता कि सर्वभूत ही आत्मा वा आत्मा ही सर्वभूत समझा जावे ॥ २९ ॥

तौ क्या बस ध्यानादि मात्र से ही चित्तवृत्ति रुकजाती हैं ? उत्तर-

* लयविक्षेपयोर्निवृत्त्येत्याचार्याः ॥ ३० ॥ (४८६)

बहुत आचार्य (कहते हैं कि) लय और विक्षेप की निवृत्ति से (निरोधहोताहै)॥

योगसूत्रोक्त निद्रावृत्ति को लय कहते हैं, और प्रमाणादि अन्य चार वृत्तियों को विक्षेप कहते हैं, इन दोनों के हटाने से निरोध सिद्ध होता है ॥३०॥

तौ क्या कोई स्थान विशेष है, जहां योग सिद्ध हो सकता है ? उत्तर-

* न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ॥ ३१ ॥ (४८७)

चित्त की प्रसन्नता से स्थान का नियम नहीं ॥

जहां मन प्रसन्न हो, जहां चाहो वहां करो, कोई स्थान हिमालय की कन्दरा वा मन्दिर मठ आदि का नियम नहीं है । क्योंकि यह योगव्यापार किसी भूमि वा देश के साथ बंधा नहीं है, स्वतन्त्र है ॥ ३१ ॥

* प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषां तत्कार्यत्वश्रुतेः ॥३२॥ (४८८)

प्रकृति को प्रथम उपादानता है क्योंकि अन्यों को प्रकृति का कार्य होना सुनते हैं॥

जिन बुद्ध्यादि के तादात्म्य से पुरुष को उन की वासना का अभिमान होजाता है उन बुद्धि आदि का उपादान कारण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देने को यह सूत्र है कि अन्य बुद्धि आदि तौ प्रकृति का कार्य हैं, केवल प्रकृति ही सब का प्रथम (आद्य) उपादान कारण है ॥ जिस आदि कारण को यहां सांख्य में प्रकृति नाम से कहा है, उसी को योगदर्शन में-

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यम् ॥ २ ॥ १८ (८९)

इस सूत्र में "दृश्य" नाम दिया है। प्रकाश=सत्त्व, क्रिया=रजस् और स्थिति=तमस् का अर्थ लगाया जावे तो "सत्त्वरजस्तमसां साम्याऽवस्था प्रकृतिः" इस सांख्य सूत्र से मिल जाता है॥

वैशेषिक दर्शन में इसी को "सत्" शब्द से निरूपण किया है। यथा—

सदऽकारणवन्नित्यम् ॥ ४ । १ । १ ॥

सत्=जो हो, अकारणवत्=जिस का अन्य कारण न हो, नित्यम्=जो परिणामी परन्तु अनाश्य हो, वह प्रकृति है। सत् शब्द से अभाव से भाव मानने वालों का खण्डन है, अकारणवत् से इच्छा गुण का खण्डन और नित्यम् से क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन किया गया है॥

व्यक्ताद्व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात्॥ न्यायदर्शन ॥४।१।११॥

इस सूत्र में व्यक्त शब्द से इसी उपादान कारण प्रकृति की विवक्षा है। वेदान्त में इस को अव्यक्त कहा है सो इन्द्रियाऽगोचर होने से, और न्याय में व्यक्त कहा है सो अनुमानगम्य होने से। इस लिये विरोध नहीं ॥३२॥

यदि कहो कि पुरुष भी तो नित्य है, वही क्यों न उपादान मानलिया जावे? उत्तर—

* नित्यत्वेऽपि नात्मनोयोग्यत्वाभावात् ॥ ३३ ॥ (४८९)

नित्य होने पर भी आत्मा (पुरुष को उपादानता) नहीं हो सकती क्योंकि योग्यता का अभाव है॥

जगत् का उपादान होने योग्य वह पदार्थ हो सकता है जो परिणामी नित्य हो, पुरुष परिणामी नहीं, कूटस्थ है, एकरस है, इस लिये वह उपादान मानने योग्य नहीं ॥ ३३ ॥ तथा—

* श्रुतिविरोधान्न कुतर्काऽपसदस्यात्मलाभः ॥ ३४ ॥ (४९०)

श्रुति के विरोध से कुतर्क पर स्थित को आत्मा का लाभ नहीं होता॥

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इत्यादि श्वेताश्वतरादि के श्रुति वाक्यों का विरोध करके जो कुतर्की पुरुष आत्मा को ही परिणामी नित्य=

अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानते हैं उन को यथार्थ आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ३४ ॥

यदि कहो कि वृक्षादि की उत्पत्ति में तो प्रत्यक्ष भूमि आदि उपादान कारण हैं, फिर प्रकृति ही सब का आद्य उपादान क्यों मानी जावे ? उत्तर—

*** पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥ ३५ ॥ (४९१)**

परम्परा होने पर भी प्रधान (प्रकृति) की अनुवृत्ति अणु के समान है ॥

जैसे अणु से त्रसरेणु और उन से अन्य घटादि पदार्थ कार्यरूप से बनते हैं उस दशा में चाहे साक्षात् अणु से घटादि न बनो, परम्परा से बनो, तो भी त्रसरेणु आदि में अणु की अनुवृत्ति अवश्य होती है, इसी प्रकार वृक्षादि भी चाहे साक्षात् प्रकृति से न बनते हों, किन्तु (प्रकृति से महत्, अहङ्कार, तन्मात्र, स्थूलभूत पृथिवी आदि, उन से वृक्षादि) परम्परा से बनते हों, तो भी प्रकृति की अनुवृत्ति रहती है । इस कारण आद्य (प्रथम) उपादान प्रकृति ही है ॥ ३५ ॥ तो क्या प्रकृति विभु भी है ? उत्तर—हां, क्योंकि—

*** सर्वत्र कार्यदर्शनाद्विभुत्वम् ॥ ३६ ॥ (४९२)**

सर्वत्र कार्य देखने से विभुत्व है ॥

प्रकृति के कार्यों को हम एक देश में देखें और दूसरे देश में न देखें तब तो प्रकृति को अणु कह सकें, परन्तु हम कोई स्थान ऐसा नहीं देखते जहां प्रकृति का कोई कार्य न हो, किन्तु सर्वत्र ही कोई न कोई प्राकृत कार्य देखते हैं, इस लिये प्रकृति को विभु मानना ठीक है ॥ यह प्रकृति का विभुत्व अस्मदादि की दृष्टि में है, न कि परमात्मा की अपेक्षा में ॥ ३६ ॥

यदि कहो कि परिणाम क्रिया से होता है, क्रिया विना निष्क्रिय पदार्थ में परिणाम नहीं होता, इस लिये प्रकृति में क्रिया वा गति माननी होगी और गति विभु पदार्थ में नहीं हो सकती, तो फिर विभु कैसे मान सकते हैं ? उत्तर—

*** गतियोगेऽप्याद्यकारणताऽहानिरणुवत् ॥ ३७ ॥ (४९३)**

गति के योग में भी आद्य कारणता की हानि नहीं, जैसे अणु में ॥

जैसे अणु गतिमान् होने पर भी संघातों का उपादान है, वैसे ही प्रकृति में परमात्मा की प्रेरणा से गति होने पर भी उसके आद्य कारण होने में हानि नहीं ॥ ३७ ॥

* प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः ॥ ३८ ॥ (४९४)

प्रधान (प्रकृति) को प्रसिद्ध (पृथिव्यादि) से अधिकता है (अतः) नियम नहीं॥

प्रसिद्ध पृथिवी जल तेज वायु आदि की अपेक्षा प्रकृति अधिक है। इस लिये सांख्य ने वैशेषिकादि के समान ९ द्रव्यों का नियम नहीं किया। यह सांख्य की प्रक्रिया मात्र का अन्तर है, विरोध नहीं ॥ ३८ ॥

* सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ॥ ३९ ॥ (४९५)

सत्त्वादि उस (प्रकृति) के धर्म नहीं हैं, तद्रूप होने से ॥

सत्त्व रज तम प्रकृति का रूप ही हैं, इस लिये वे (सत्त्वादि) प्रकृति का धर्म (गुण) नहीं, किन्तु द्रव्य हैं ॥ ३९ ॥

* अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधान-स्योष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ॥ ४० ॥ (४९६)

प्रकृति को भोग न होने पर भी पुरुषनिमित्त सृष्टि है । जैसे ऊंट का कुङ्कुम वहन (ढोना) ॥

जैसे ऊंट को कुङ्कुम लगाना नहीं आता, उस को अपना प्रयोजन कोई नहीं कि कुङ्कुम रङ्ग को लाद कर लेचले, किन्तु मनुष्यों के लिये लादता है, मनुष्य अपने प्रयोजनार्थ ऊंट पर कुङ्कुम लादते हैं, तथैव प्रकृति का कोई अपना प्रयोजन नहीं कि सृष्टि रचे, परन्तु पुरुषों के कर्मफलभोगार्थ प्रकृति सृष्टि को उत्पन्न करती है और परमपुरुष परमात्मा प्रकृति से जगत् सर्जन करवाता है ॥ ४० ॥

यदि कहो कि एक प्रकृति से विविध सृष्टि क्यों हुई, एक प्रकार की ही क्यों न हुई ? उत्तर-

* कर्मवैचित्र्यात्सृष्टिवैचित्र्यम् ॥ ४१ ॥ (४९७)

कर्मों की विचित्रता से सृष्टि की विचित्रता है ॥

जिन कर्मों के फल भोगवाने को परमपुरुष प्रकृति से सृष्टि रचता है, वे पुरुषों के कर्म विचित्र प्रकार के होते हैं, एक प्रकार के नहीं, बस उन अनेक प्रकार के कर्मों का फल भोगवाने को आवश्यक है कि सृष्टि अनेक प्रकार की= विचित्र हो ॥ ४१ ॥

अच्छा जी! सृष्टि तौ कर्मफल भोगवाने को हुई, परन्तु प्रलय क्यों होता है? उत्तर-

* साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ॥ ४२ ॥ (४९८)

समता और विषमता से दो कार्य होते हैं ॥

जब प्रकृति के सत्वादि तीनों गुण समता धारण करते हैं, तब प्रलय और जब विषमता धारण करते हैं तब विचित्र सृष्टि होती है ॥ ४२ ॥

अच्छा तौ मुक्त जीवों के लिये प्रकृति सृष्टि को उत्पन्न क्यों नहीं करती? उत्तर-

* विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ॥ ४३ ॥ (४९९)

विमुक्तों के बोध (विवेक) से प्रकृति की सृष्टि नहीं होती, जैसे लोक में ॥

जिस प्रकार लोक में मनुष्य जब अपने काम को कर चुकता और कृतकार्य हो जाता है, तब काम बन्द करके आनन्द मनाता है, इसी प्रकार जब सृष्टि में आया हुवा पुरुष बोध ज्ञान वा विवेक को प्राप्त कर लेता है तब कृतकृत्य होजाता और मुक्ति का आनन्द मनाता है, प्रकृति के बन्धन से छूट जाता है, उस को प्रकृति बन्धन में नहीं डालती ॥ ४३ ॥

* नान्योपसर्पणे मुक्तोपभोगो निमित्ताऽभावात् ॥४४॥ (५००)

निमित्त के न रहने से अन्यों की ओर दौड़ने पर भी मुक्त पुरुष को उपभोग नहीं होता ॥

यदि कोई कहे कि प्रकृति तौ सर्वत्र फैली है, जहां जिस देश में मुक्त पुरुष रहते हैं, वहां अन्यों (बद्ध पुरुषों) के समीप दौड़ने वाले प्राकृत बन्धन मुक्तों को भी क्यों नहीं लग जाते? तौ उत्तर-निमित्ताऽभाव से ऐसा नहीं होता। हम लोक में देखते हैं कि हमारे चारों ओर लोग अनेक काम करते हैं, परन्तु हमारा कोई प्रयोजन न हो तौ हम को कोई काम खेंच नहीं सक्ता, हम सब ओर से निर्लेप बने रहते हैं, इसी प्रकार अन्यों के प्रति दौड़ती हुई प्रकृति भी मुक्तों को कोई प्राकृत भोग नहीं भुगवा सकती, क्योंकि उन का कोई निमित्त नहीं ॥ ४४ ॥

यही योगदर्शन २। २२ में भी कहा है। यथा—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २। २२ ॥

कृतार्थ के प्रति नष्ट भी (दृश्य), अन्यों के प्रति सामान्य से अनष्ट है॥ इस से पूर्व सूत्र में गुणत्रयात्मिका प्रकृति को पुरुष (द्रष्टा) के लिये होना कहा था, उस में यह शङ्का हुई कि जो पुरुष कृतार्थ (कामयाब) होकर मोक्ष पाय गया उस के प्रति प्रकृति नष्ट (व्यर्थ) है । इस के उत्तर में कहते हैं कि प्रकृति एक है और पुरुष अनेक हैं, बस एक की मुक्ति में शेषों के लिये प्रकृति सार्थक होने से नष्ट नहीं (अनष्ट ही रही) हो सकती क्योंकि जब एक पुरुष के भोग मोक्ष दोनों कार्य प्रकृति से निकल चुके तब अन्य अनेकों के साथ प्रकृति वही साधारणता रखती है और उन के भोग मोक्ष के लिये सार्थक रहती है, यूं हिर फिर कर प्रकृति कभी (नष्ट) निरर्थक नहीं होती। इस लिये कभी संसार का उच्छेद (समूल नाश) नहीं होता॥ नष्ट का अर्थ व्यर्थ इस लिये किया गया है कि वास्तविक नाश वा अभाव असंभव है क्योंकि प्रकृति कालापेक्ष अनादि अनन्त तीन पदार्थों (जीव ब्रह्म प्रकृति) में से एक है ॥

तो क्या पुरुष बहुत हैं ? उत्तर-हां, क्योंकि-

* पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥ ४५ ॥ (५०१)

व्यवस्था से पुरुषों का बहुत होना (सिद्ध है) ॥

यदि पुरुष एक होता तो जन्म मरणादि व्यवस्था न पाई जाती, परन्तु कोई मरता, कोई जन्मता है, इस व्यवस्था से पुरुषों का बहुत होना पाया जाता है ॥ तथा च-

१-न्यायदर्शन में भी-

(१) पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः १ । १ । १९

इस सूत्र में एक देह को त्याग कर अन्य देह में जाना=जन्मान्तर माना है। इस से जीव अनेक तथा परिच्छिन्न सिद्ध होते हैं क्योंकि एक विभु पदार्थ कहीं को सरक नहीं सकता ॥

(२) नात्ममनसोः संनिकर्षाऽभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २१ ॥ (८२)

इस सूत्र में प्रत्यक्षोत्पत्ति में आत्मा और मन के संयोग का अभाव कहते हुवे सिद्ध होता है कि आत्मा विभु वा एक नहीं किन्तु परिच्छिन्न और अनेक हैं। एक होता तो सब से सदा संयुक्त रहता ॥ जीवों में परस्पर स्पर्धा, द्वेष, विरोध, ईर्ष्या, शत्रुता इत्यादि से भी जीवों का अनेकत्व तथा परिच्छिन्नत्व सिद्ध है ॥ और —

२-वैशेषिकदर्शन में भी-

(१) सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ३ । १९

(२) व्यवस्थातो नाना ॥ ३ । २० ॥

इन दोनों सूत्रों में आत्मा के एक कहने का कारण बता कर वास्तव में आत्माओं का अनेक होना बताया गया है । सब को सुख दुःख ज्ञान की सिद्धि एक सी होने रूप सजातीयता से जातिपरक आत्मा को एकत्व है परन्तु व्यवस्था से आत्मा बहुत हैं ॥ इसी बात को पूर्व इसी-

३-सांख्यदर्शन-

में पुष्ट करते हुवे कहा है कि-

(१) नाद्वैतश्रुतिविरोधोजातिपरत्वात् ॥ १ । १५४ ॥

जो श्रुति आत्मा (जीव) के अद्वैत को वर्णन करती हैं उन से विरोध इस लिये नहीं रहता कि जीव अनेक होने पर भी उन की जाति एक है, उसी का वर्णन वे श्रुतियें करती हैं ॥

(२) नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात्तद्भेदप्रतीतेः ॥ ५ । ६१ ॥

आत्मा के चिन्ह से उन का भेद प्रतीत होता है इस लिये जीवविषयक अद्वैत ठीक नहीं ॥ तथा-

४-योगदर्शन-

में निम्नलिखित सूत्र में ऊपर ४३ वें सूत्र की व्याख्यानुसार कहा है कि "कृतार्थ पुरुष को नष्ट भी दृश्य अन्यों (पुरुषों) को नष्ट नहीं साधारणता से" ॥ इस से पुरुषों (आत्माओं=जीवों) का अनेकत्व सिद्ध है ॥ तथैव-

५-वेदान्तदर्शन-

(१) तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहतिपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ ३ । १ । १ ॥

(२) नाऽणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २ । ३ । २१ ॥

(३) अंशो नानाव्यपदेशात् ॥ २ । ३ । ४३ ॥

(४) असन्ततेश्चाऽव्यतिकरः ॥ २ । ३ । ४९ ॥

(५) उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ २ । ३ । १९ ॥

(१) शरीरान्तर वा जन्मान्तर की प्राप्ति में चलता है और अन्य भूतों से मिलता है । यह प्रश्नोत्तरों से सिद्ध है ॥ इस में जीव के एक देह छोड़ कर देहान्तर धारण करने से उस का परिच्छिन्न एकदेशीय होना और उसी से बहुत होना सिद्ध है ॥

(२) यदि कहो कि आत्मा अणु नहीं है क्योंकि श्रुति उस को विभु बताती हैं, तो इस का उत्तर यह है कि (न) नहीं, क्योंकि उन श्रुतियों में अन्य (परमात्मा) का प्रकरण है अर्थात् जिन श्रुतियों में आत्मा को विभु=व्यापक कहा है वहां परमात्मा का प्रकरण है, किन्तु जीवात्मा अणु ही है ॥

(३) नाना (बहुत=अनेक) होने के कथन से जीवात्मा अंश है ॥ इस में स्पष्ट जीवात्मा को नाना (बहुत) संख्या वाला बताया है ॥

(४) विभु न होने से व्यत्यय नहीं ॥

इस में जीवात्मा को विभु न मानने से अणुत्व और उस से बहुत्व भी सिद्ध है ॥

(५) देह छोड़ना, जाना, आना; इन हेतुओं से भी जीवों का अणुत्व और बहुत्व सिद्ध होता है ॥ ४५ ॥

* उपाधिश्चेत्तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥ ४६ ॥ (५०२)

यदि उपाधि है, तो उपाधि की सिद्धि में फिर द्वैत होगा ॥

जो अद्वैतवादी कहते हैं कि जन्ममरणादि व्यवस्था उपाधिभेद से एक ही पुरुष में होती है, उन के मत में यह दोष है कि उपाधि के मानने से भी द्वैत हुवा क्योंकि एक पुरुष, दूसरी उपाधि अर्थात् अद्वैत तो तब भी न रहेगा क्योंकि उपहित और उपाधि, ये दो पदार्थ होगये। द्वैतापत्ति का निवारण उपाधि मानने पर भी न होने से औपाधिक पुरुषबहुत्व नहीं, किन्तु वास्तविक पुरुषबहुत्व ही ठीक है ॥ ४६ ॥

यदि कहो कि उपाधि और पुरुष दोनों प्रकृति और पुरुष ही हैं, इस से उपाधिकृत पुरुषबहुत्व है, वास्तविक नहीं, उत्तर-

* द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ॥ ४७ ॥ (५०३)

दो में भी प्रमाणविरोध (आवेगा) ॥

जिन अद्वैतप्रतिपादक प्रमाणों के विरोध से बचने के लिये तुम उपाधिकृत पुरुषबहुत्व कल्पना करते हो, उन प्रमाणों से तो दो पदार्थ मानने में भी विरोध रहेगा ही, फिर उपाधिकृत बहुत्व न मान कर सीधा वास्तविक पुरुषबहुत्व ही क्यों न मान लो ॥ ४७ ॥

* द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाऽभावात् ॥ ४८ ॥ (५०४)

साधक प्रमाण के अभाव से, दोनों से भी विरोध न मानो तौ न तौ पहला पक्ष ठीक है, न दूसरा ॥

पहला पक्ष यह था कि उपाधि से अनेक पुरुष जान पड़ते हैं, इस में यह दोष दियागया कि फिर भी उपाधि और पुरुष इन दो पदार्थों के मानने से द्वैत रहा, अद्वैत नहीं। इस पर यदि दूसरा पक्ष किया जावे कि हम को तौ पुरुष का अद्वैत इष्ट है, विजातीय उपाधिकृत द्वैत से हमारी हानि नहीं, न कोई प्रमाणविरोध है, तौ उत्तर यह है कि इस में कोई साधक=प्रमाण नहीं कि अद्वैत का तात्पर्य पुरुषाऽद्वैतमात्र में है, अतएव दूसरा पक्ष भी असिद्ध है ॥ ४८ ॥

* प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः ॥ ४९ ॥ (५०५)

यदि स्वतः प्रकाश से उस (पुरुषाऽद्वैत) की सिद्धि हो तौ कर्मकर्तृभाव का विरोध है ॥

यदि कहो कि अन्य प्रमाण की आवश्यकता क्या है, स्वयंप्रकाश पुरुष ही स्वयं अपने अद्वैतभाव का प्रकाशक है। तौ उत्तर यह है कि ऐसा मानने से कर्म कर्त्ता का विरोध है, अर्थात् पुरुष ही प्रकाशक=कर्त्ता और वही प्रकाश्य=कर्म मानना पड़ेगा, जो कि असंभव है ॥ ४९ ॥ किन्तु-

* जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः ॥ ५० ॥ (५०६)

जड से भिन्न, चिद्रूप जड को प्रकाशित करता है ॥

प्रकाशक चेतन पुरुष है और प्रकाश्य जड प्राकृत पदार्थसमूह है ॥५०॥

यदि कहो कि जड चेतन भेद से द्वैत मानने पर अद्वैत श्रुतियों का विरोध आवेगा ? तौ उत्तर-

* न श्रुतिविरोधोरागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ॥ ५१ ॥ (५०७)

श्रुतियों से विरोध नहीं होगा, क्योंकि रागियों को वैराग्य उत्पन्न कराने के लिये उन (श्रुतियों) की सिद्धि है ॥

जहां कहीं कोई श्रुति यह कहती हैं कि आत्मा ही केवल वस्तु है, और उस से भिन्न प्राकृत जगत् कुछ नहीं, इस का तात्पर्य सांख्याचार्य कपिल देव जी इस सूत्र द्वारा यह बताते हैं कि रागि पुरुषों (विषयासक्तों) को वैराग्य उत्पन्न करने के लिये जगत् को और उस के समस्त विषयभोगों

अतितुच्छ बताने के लिये श्रुतियों ने " जगत् कुछ नहीं " इस आशय के वाक्य कहे हैं कि जिस से जगत् के विषयों से वैराग्य होकर मनुष्य को आत्म-ज्ञान में अनुराग वा रुचि हो । वास्तव में जगत् मिथ्या वा असत् नहीं । किन्तु जब कोई वस्तु किसी अन्य बड़ी वस्तु के सामने अतितुच्छ होती है तो उस की अतितुच्छता के प्रकट करने को उसे " कुछ नहीं " कहा जाता है ॥ इस प्रकार सांख्याचार्य जड चेतन भेद से द्वैत की पुष्टि करते हैं ॥ तथा-

अन्यथाऽभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥
वेदान्तदर्शन ३ । ३ । ३६

अन्यथा अभेद की अनुपपत्ति होगी । इस का उत्तर देते हैं कि अभेद का कथन दूसरे उपदेशों की नाईं बन सकेगा । जैसे प्राण के अधीन स्थिति प्रवृत्ति होने से प्राण को " एषोऽग्निस्तपति एष सूर्यः ० ० (प्रश्न० २ । ५) " इत्यादि से सर्वरूप कहा है और छान्दोग्य बृहदारण्यक की प्राणविद्या में इन्द्रियों को प्राणरूप कहा है अर्थात् सुस्पष्ट भेद में भी अभेदरूप से वर्णन है । वैसे ही यहां भी है अर्थात् इस सूत्र में और उक्त सांख्य सूत्र में ऐसा कहा है कि भेदवाक्य मुख्य हैं । अभेदवचन जिस हेतु से आये हैं, वह हेतु दर्शाया है, परन्तु सांख्य वा वेदान्त में भेदवचन का तात्पर्य अभेद में नहीं है । इस लिये भेदवाद ही सर्वशास्त्रसंमत वैदिक है, अद्वैतवाद नहीं ॥ ५१ ॥

आगे जगत् की सत्यता में अन्य हेतु भी देते हैं । यथा-

* जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद्बाध-
काऽभावात् ॥ ५२ ॥ (५०८)

अदुष्ट कारण से उत्पन्न होने और बाधक न होने से जगत् को सत्यता है ॥

और बाधकाऽभाव से सीप में चान्दी के समान भ्रान्तिज्ञानविषयता कहने वालों का प्रत्युत्तर हुवा । क्योंकि जिस प्रकार सीप में चान्दी आदि की प्रतीति भ्रमदोष से होती है, वैसे जगत् की प्रतीति किसी भ्रमदोष से नहीं होती । तथा जिस प्रकार भ्रम निवृत्त होने पर चान्दी की प्रतीति निवृत्त हो जाती है, इस प्रकार भ्रमनिवृत्ति पर जगत् की प्रतीति नहीं हटती । अथवा जिस प्रकार निद्रा के तमोदोष से स्वप्न में प्रतीति होती है और जागने पर बाधित हो जाती है, इस प्रकार जगत् की प्रतीति तमोदोष से नहीं होती, न प्रकाश से निवृत्त होती है । इस लिये जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं ॥

प्रमाण-"यदिदं किं च, तत्सत्यमित्याचक्षते" तैत्ति० २। ६=यह जो कुछ है, उस को "सत्य" कहते हैं॥ तथा-"प्राणा वै सत्यम्, तेषामेष सत्यम्" बृह० २। १। २० निश्चय प्राण सत्य हैं, उन का यह सत्य है। इत्यादि बहुत प्रमाण हैं॥ ५२॥ तथा-

* प्रकारान्तराऽसंभवात्सदुत्पत्तिः॥ ५३॥ (५०९)

अन्य प्रकार से संभव नहीं, अतः सत् से उत्पत्ति है॥

सत् (प्रकृति) से उत्पन्न होने के अतिरिक्त जगत् की उत्पत्ति अन्य प्रकार से संभव नहीं, इस लिये सत्य प्रकृति से उत्पन्न जगत् भी सत्य है॥५३॥ प्रश्न-

* अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः॥ ५४॥ (५१०)

अहङ्कार कर्त्ता है, पुरुष नहीं॥

तब फिर पुरुष को कर्त्ता भोक्ता कैसे मान सकते हैं?॥ ५४॥ उत्तर-

* चिदऽवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात्॥५५॥ (५११)

भोग का पर्यवसान चित्=जीव में है क्यों कि उस (जीव) के किये कर्मों से कमाया गया है॥

भोग, जीव के कर्मों की कमाई (फल) है, इस लिये जीव ही कर्त्ता और वही भोक्ता है। तथा अन्य सूत्र जो जीव को निष्क्रिय कहते हैं उन का तात्पर्य जीव के स्वरूप में क्रिया न होने से है, परन्तु जीव के संनिधान से देहादि में क्रिया होती है, जीव के निकल जाने पर नहीं होती, अतः जीव (पुरुष) उन क्रियाओं का कर्त्ता है, तथा इसी प्रकार भोक्ता भी है। इस विषय में गत सांख्य के इतने सूत्र प्रमाण हैं, जिन को स्मरणार्थ नीचे उद्धृत किया जाता है:-

१-"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" (१। १)=तीन प्रकार के दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति परमपुरुषार्थ है॥

२-"अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता" (६। ५)=दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति से कृतार्थ होते हैं॥

३-"यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः" (६। ६)= जैसा दुःख से क्लेश पुरुष को होता है वैसा सुख से उस का अभिलाष नहीं॥

४-"विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्" (३। ८४)= विवेक से सर्व दुःखों से निवृत्त होने पर कृतकृत्यता=परमपुरुषार्थसिद्धि होती है, न कि अन्यथा॥

५–" कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च " (१ । १४४)=कैवल्य मोक्ष के लिये [जीव की] प्रवृत्ति होती है; इस हेतु से भी जीव कर्त्ता है ॥

६–" द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम् " (२ । २९)=जीवात्मा द्रष्टा भोक्ता कर्त्ता आदि है और उस के साधन, करण, महत् आदि इन्द्रिय हैं ॥

७–" पुरुषार्थं करणोद्भवः " (२ । ३६)=कर्त्ता=जीव के लिये करण इन्द्रिय हैं ॥

८–" करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् " (२ । ३८)=महत् अहंकार मन आदि १३ करण हैं ॥

९–" प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषां कार्यत्वश्रुतेः " (६ । ३२)=आदि उपादानकारण जगत् का प्रकृति है और उस प्रकृति के विकार महत् आदि हैं ॥

१०–" ज्ञानान्मुक्तिः " (३ । २३)=विवेक ज्ञान से, ईश्वर–जीव–प्रकृति के यथार्थ ज्ञान से, सब दुःखों से, क्लेशों से, तापों से मुक्ति होती है ॥

११–" तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः " (३ । ७५)=तत्त्व के अभ्यास करने से ईश्वर–जीव–प्रकृति के विवेकरूपी ज्ञान के दार्ढ्य और वैराग्य से विवेकसिद्धि होती है ॥

१२–" वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः " (३ । ३१)=चित्तवृत्तियों को रोकने से ध्यान (योग) सिद्ध होता है ॥

१३–" वैराग्यादभ्यासाच्च " (३ । ३६)=वैराग्य और अभ्यास से ध्यान सिद्ध होता है ॥

१४–" ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः " (६ । २९) ध्यान आदि से अभिमान रुक जाता है ॥

इत्यादि अनेक सूत्रों द्वारा सांख्यदर्शन इसी सिद्धान्त का सम्पूर्णतया सर्वथा प्रतिपादन करता है । वैदिकसिद्धान्त ही ऊपर उद्धृत सांख्यदर्शन के सूत्रों में अविकल पाये जाते हैं । ऊपर के सूत्रों में स्पष्ट कहा हुवा है कि जीव कर्त्ता है और उस के करण महत् आदि इन्द्रिय हैं, जीव दुःखों से निवृत्त हो जाने का प्रयत्न करता है, चित्तवृत्तियों को रोक कर अभ्यास वैराग्य आदि द्वारा योगसिद्धि होने से प्रकृति–जीव–ईश्वर का यथार्थज्ञान, विवेक प्राप्त होता है, जिस से जीव (कर्त्ता) सर्व दुःखों से मुक्त हो कृतकृत्य हो जाता है ॥५५॥

तो क्या जैसे पृथिवी पर कर्मफलभोगार्थ पुनरावृत्ति=पुनर्जन्म होता है, इसी प्रकार चन्द्रलोकादि के जीव भी जन्मते मरते=पुनर्जन्म वाले हैं ?

उत्तर-हां, क्योंकि-

*** चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात् ॥ ५६ ॥ (५१२)**

चन्द्रादि लोक में भी पुनर्जन्म है, क्योंकि निमित्त (कर्म) की सत्ता है॥

जहां २ कर्म है, वहां २ पुनर्जन्म है, इस लिये सभी लोक लोकान्तर के पुरुष पुनर्जन्म पाते हैं ॥ ५६॥ तौ क्या चन्द्रादिलोकवासियों को भी कर्मफल भोगना आवश्यक है ? उत्तर-हां, क्योंकि-

*** लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ॥ ५७ ॥ (५१३)**

लोकविशेष का उपदेश न होने से पूर्व लोक (भूलोक) के समान सिद्धि है॥

जिन शास्त्रों ने कर्म का फल भोगना आवश्यक ठहराया है, उन शास्त्रों ने किसी लोक विशेष पृथिवी आदि का नाम लेकर उपदेश नहीं किया, इस से सिद्ध होता है कि वे शास्त्र पूर्व लोक (भूलोक) के समान सर्वलोक निवासियों को ही कर्मफलभोग आवश्यक बताते हैं, जब चन्द्रादिलोकस्थ जीव कर्म करते हुवे फलभोगार्थ पुनर्जन्म से कब बच सकते हैं ॥ ५७ ॥

क्यों जी! छान्दोग्य प्रपा० ४ खं० १५-६ में तो यह लिखा है कि-"चन्द्रमसो विद्युतं, तत्पुरुषोऽमानवः । स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" अर्थात् चन्द्रलोक से बिजुली को प्राप्त होकर जीव अमानव (मनुष्यदेहरहित) हो जाता है। वह (मार्ग) इन (जीवों) को ब्रह्म तक पहुंचाता है, यह देवपथ वा ब्रह्मपथ है, इस मार्ग से जाने वाले इस मनुष्यदेह में पुनर्जन्म नहीं पाते ॥ तब तुम कैसे (पूर्व सूत्र में) कहते हो कि चन्द्रादिलोकस्थ भी पुनर्जन्म पाते हैं ? उत्तर-

*** पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः ॥ ५८ ॥ (५१४)**

परम्परा से उस (मोक्ष) की सिद्धि में (उक्त) मुक्तिप्रतिपादक श्रुति है॥

चन्द्रलोक से सीधे मुक्ति को पा जाते हैं, यह श्रुति में नहीं कहा, किन्तु परम्परा से कहा है अर्थात् चन्द्रलोकस्थ जीव यदि मुक्तिके साधनों से संपन्न हो जावें तौ विद्युत् को प्राप्त हो जाते हैं, तब फिर उस देवमार्ग से मुक्ति पाते हैं, किन्तु चन्द्रलोक साक्षात् देवमार्ग नहीं, वह तौ पितृमार्ग=पुनर्जन्म वाला है ॥ ५८ ॥

* गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्भोगदेश-
कालाभो व्योमवत् ॥ ५९ ॥ (५१५)

व्यापक होने पर भी आकाश के समान उपाधियोग से भोग देश और काल का लाभ (जीव को हो सकता) परन्तु (जीव की तो) गति सुनते हैं ॥

जीव तो श्रुतियों से देशान्तर को वा लोकान्तर को गति करने वाला सुना जाता है, अर्थात् गतिमान् है, व्यापक नहीं, परन्तु यदि व्यापक भी होता तब भी तो उपाधियोग से भोग देश और काल का लाभ जीव को हो सकता था। अर्थात् भोगविशेष, कालविशेष और देशविशेष की प्राप्ति जीव को उपाधियोग से तब भी होती, जब कि वह व्यापक होता और फिर गतिमान् होने अर्थात् अणु होने, व्यापक न होने पर तो चन्द्रादि लोक विशेषों की प्राप्ति में भी पुनर्जन्म मानने में कहना ही क्या है ॥ ५९ ॥

प्रश्न–तो क्या जैसे जीव के चन्द्रादि लोकों में जाने से पहले ही वे चन्द्रादि लोक वर्त्तमान हैं, इसी प्रकार क्या जीव के लिये देहान्तर भी पहले ही से त्यार रहते हैं और समय पर जीव उन में चला जाता है? उत्तर, नहीं, क्योंकि—

* अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसङ्गात् ॥ ६० ॥ (५१६)

विना (जीव के) अधिष्ठाता हुवे (देह के) सड़ जाने का प्रसङ्ग होगा (इस से उस की सिद्धि नहीं) ॥

यदि जीव पीछे अधिष्ठाता बने और लोकान्तर के समान देहान्तर पहले से वर्त्तमान मानें तो यह दोष होगा कि विना जीव के वे देह सड़ जावें ॥६०॥

* अदृष्टद्वारा चेदऽसंबद्धस्य
तदऽसंभवाज्जलादिवदऽङ्कुरे ॥६१॥ (५१७)

जैसे जलादि से अङ्कुर में (विना बीजसंयोग के सिद्धि नहीं) ऐसे ही विना (जीव) संबन्ध के यदि अदृष्ट द्वारा (भी देहान्तर सिद्धि माने तो) असंभव है ॥

यदि कहो कि जीव के अदृष्ट (प्रारब्ध) द्वारा पहले से देहान्तर त्यार रहने क्यों न मानें, तो उत्तर यह है कि जीवसंबन्धरहित देहों का रहना संभव नहीं, जैसे जलादि में बीज विना अङ्कुर नहीं उपजते ॥ ६१ ॥

* निर्गुणत्वात्तदऽसंभवादऽहंकारधर्मा ह्येते ॥ ६२ ॥ (५१८)

निर्गुण होने से असंभव होने से ये अहंकार के ही धर्म हैं ॥

ये अदृष्ट आदि सब धर्म अहंकार के हैं, केवल पुरुष (जीव) के नहीं, क्योंकि पुरुष निर्गुण है, उस में सत्त्व रज तम कोई गुण स्वरूपगत नहीं, अदृष्टादि सब गुणत्रयात्मक हैं, अतः वे अहंकार के धर्म हैं, पुरुष के नहीं। पुरुष को निर्गुण कहने का अर्थ कोई यह न समझे कि पुरुष में कोई गुण वा धर्म नहीं है, किन्तु पुरुष में चैतन्य धर्म वा गुण तो अवश्य है और कोई भी सत्पदार्थ ऐसा नहीं है जिस में कोई गुण न हो, द्रव्य और गुण का तो नित्य संबन्ध है। परन्तु सांख्य में गुण शब्द से प्रकृति के अन्तर्गत सत्त्वादि ३ द्रव्यों की लाक्षणिक संज्ञा ' गुण ' है, बस पुरुष में सत्त्व रज तम कोई गुण उस के निज के नहीं, अतः उस को स्वरूप से निर्गुण कहा जाता है ॥ ६२ ॥

* विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ॥ ६३ ॥ (५१९)

अन्वय और व्यतिरेक से विशिष्ट को जीवत्व है ॥

यदि कोई कहे कि हम तो अनेक धर्मशास्त्रादि में जीव की प्रारब्धानुसार जाति आयु और भोग की चर्चा देखते सुनते हैं, तब सांख्यकार ने प्रारब्धादि को अहंकार का धर्म क्यों कह दिया? उत्तर-यह है कि जहां २ जीव को प्रारब्धकर्मफलभोग का वर्णन है वहां २ अहंकारविशिष्ट पुरुष को " जीव " मान कर कहा गया है, क्योंकि जहां २ अहं प्रत्यय है, वहां २ जीव शब्द का व्यवहार है, और जहां अहं प्रत्यय नहीं वहां (मुक्ति में) जीव शब्द से व्यवहार नहीं, किन्तु वहां पुरुष आत्मा इत्यादि शब्दों से व्यवहार है। इस लिये अहंकारसहित पुरुष को जीव कहते हैं, केवल पुरुष को नहीं ॥ ६३ ॥

प्रश्न-जीव को जो कार्यसिद्धि होती हैं, वे किस के अधीन हैं? उत्तर-

* अहंकारकर्त्रऽधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराऽधीना, प्रमाणाऽभावात् ॥ ६४ ॥ (५२०)

कार्यों की सिद्धि अहंकार कर्त्ता के अधीन है, ईश्वराधीन नहीं, क्योंकि (ईश्वराधीन होने में) कोई प्रमाण नहीं ॥

इस से पूर्व ५४ (५१०) वें सूत्र में अहंकार के कर्त्ता होने का वर्णन कर आये हैं, उसी को पढ़कर समाधान समझना चाहिये ॥ ६४ ॥

* अदृष्टोद्भूतिवत्समानम् ॥ ६५ ॥ (५२१)

अदृष्ट (प्रारब्ध) की उत्पत्ति के सदृश समानता है ॥

यदि कोई प्रारब्धाऽधीन कार्यसिद्धि माने, तो अदृष्ट भी पुरुष के पूर्व जन्मकृत कर्मों से उत्पन्न हुवा है, इसलिये वह भी अहंकारकर्तृक ही होने से समान है अर्थात् एक ही बात है, चाहे प्रारब्धाधीन कहो, चाहे अहंकार युक्त पुरुष के कर्माऽधीन कहो, दोनों प्रकार से कार्यसिद्धि पुरुषार्थाऽधीन ही है॥६५॥

तो क्या मोक्ष की सिद्धि भी अहंकारयुक्त पुरुष के अधीन है? उत्तर- नहीं, प्रत्युत-

* महतोऽन्यत् ॥ ६६ ॥ (५२२)

अन्य (मोक्ष) महत्=बुद्धि के (अधीन है) ॥

सांसारिक कार्यसिद्धियों से अन्यत् (मोक्ष की सिद्धि) अहंकाराऽधीन नहीं, किन्तु सत्वप्रधान बुद्धि के अधीन है ॥ ६६ ॥

जब कि प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान से मनुष्य को प्रकृति का सम्बन्ध टूट कर अत्यन्तदुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्त होजाता है, तब फिर यह भी बताना आवश्यक है कि यह मनुष्य प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ता ही क्यों है? उत्तर-

* कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावो ऽप्यऽनादिर्बीजाङ्कुरवत् ॥ ६७ ॥ (५२३)

प्रकृति का स्वस्वामिभाव (मिलकियत और मालिकपना) कर्मनिमित्तक भी अनादि है, जैसे बीज और अङ्कुर का (अनादि है) ॥

जिस प्रकार बीज से अङ्कुर, अङ्कुर से पुनः बीज, बीज से पुनः अङ्कुर की उत्पत्ति देखते हैं और यह नहीं कह सकते हैं कि बीज पहला है वा अङ्कुर पहला, किन्तु प्रवाह से बीज और अङ्कुर दोनों अनादि हैं, इसी प्रकार कर्म से देह और देह (प्राकृत जड़) से कर्म होते हैं। इस प्रकार प्रवाह से अनादित्व दोनों को है ॥ १ । १६ में कर्मबन्धकारणता का प्रत्याख्यान कर चुके हैं, यहां उस की पुष्टि करने को कहा है कि बीजाङ्कुरवत् दोनों को अनादित्व है, केवल कर्म ही कारण नहीं ॥ ६७ ॥ अथवा-

* अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः ॥ ६८ ॥ (५२४)

पञ्चशिखाऽऽचार्य (कहते हैं कि) अविवेकनिमित्तक है ॥

पञ्चशिखाचार्य का यह मत है कि जीव (पुरुष) अल्पज्ञ है, इसलिये उस का विवेक जाता रहता है, अर्थात् उस को भूल होजाती है, वह असत् को सत् वा जड़ को चेतन वा अहित को हित जानने लगता है, इस कारण प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब अविवेक को इस प्राकृत संबन्ध का निमित्त मानना ठीक है । योगदर्शन २ । २४ (७५) में भी यही कहा है कि " तस्य हेतुरविद्या "=प्राकृत संयोग का हेतु अविद्या=अविवेक है ॥६८॥ तथा–

* लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ॥६९॥ (५२५)

सनन्दनाऽऽचार्य–लिङ्गशरीरनिमित्तक (प्रकृतिसंबन्ध है) ॥

पुरुष का लिङ्ग शरीर दूसरे देह को धारण करने का निमित्त है, यह सनन्दनाचार्य का मत है ॥ ६९ ॥ तथा–

* यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ॥ ७० ॥ (५२६)

चाहे यह हो, वा वह हो, उस (प्राकृत संबन्ध) का उच्छेद करना ही पुरुषार्थ है ॥

सांख्याचार्य कहते हैं कि सभी बातें ठीक जान पड़ती हैं, लिङ्ग शरीर भी शरीरान्तर का निमित्त है, कर्म भी जो बीजाङ्कुरवत् अनादि है, निमित्त है, अविवेक भी निमित्त है, (क्योंकि विवेकी तो मुक्त ही होजाता है) कुछ हो, परन्तु पुरुषार्थ (पुरुष का अर्थ=परमोद्देश) तो यही होना चाहिये कि प्रकृति के संबन्ध (बन्धन) को छोड़कर मोक्ष प्राप्त करे ॥ " तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः " इतना पाठ दुबारा इस लिये पढ़ा है कि जिस से अध्याय और ग्रन्थ की समाप्ति सूचित हो ॥

योगदर्शन के चतुर्थ (कैवल्य) पाद सूत्र ३० (१९०) में भी यही कहा है कि " ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः "=उस धर्ममेघ समाधि=विवेक से अविद्यादि क्लेशों और तदधीन कर्मों की निवृत्ति होकर मोक्ष होता है ॥

तथा योगदर्शन साधन पाद (द्वितीय) के सूत्र २५ (७६) में भी यही कहा है कि–" तदऽभावात् संयोगाऽभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्=" उस

अविद्या=अविवेक के अभाव से प्राकृत संयोग का अभाव=हान है, वही द्रष्टा (पुरुष) का मोक्ष है ॥

तथा योगदर्शन समाधि (तृतीय) पाद सूत्र ४९ (१५५) का भी यही आशय है कि " तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् " =उस प्राकृत पदार्थ मात्र से भी जब वैराग्य होजाता है, उस से दोषों का बीज क्षीण होने पर मोक्ष होजाता है ॥

तथा- योग ४। २६ (१८६) में ॥ "तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्" =तब विवेक से गम्भीर चित्त मोक्ष की ओर फिर जाता है ॥

और-" पुरुषार्थशून्यानां गुणानां० "=पुरुष के लिये निष्प्रयोजन गुणों का अपने कारण में लय, वा चिति शक्ति (पुरुष) का अपने स्वरूप में स्थित होजाना मोक्ष वा कैवल्य है । योग ४ । ३४ (१९४)

योगद० ३ । ५४ (१६०) " सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् "=सत्त्व और पुरुष की शुद्धि में समता होने पर मोक्ष होता है । विस्तार से इस सूत्र का व्याख्यान मेरे बनाये योगदर्शन भाषानुवाद में देखियेगा ॥

जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी में समस्त शास्त्र का सार मोक्षप्राप्ति का क्रम तीन कारिका (श्लोकों) में क्या अच्छा दिखलाया है:-

तत्त्वज्ञानेन तेनास्य मिथ्याज्ञानेऽपबाधिते ।
रागद्वेषादयो दोषास्तन्मूलाः क्षयमाप्नुयुः ॥ १ ॥
क्षीणदोषस्य नोदेति प्रवृत्तिः पुण्यपापिका ।
तदभावान्न तत्कार्यं शरीराद्युपजायते ॥ २ ॥
अशरीरश्च नैवात्मा स्पृश्यते दुःखडम्बरैः ।
अशेषदुःखोपरमस्त्वपवर्गोऽभिधीयते ॥ ३ ॥

अर्थ-उस तत्त्वज्ञान से इस पुरुष (जीव) के मिथ्याज्ञान हट जाने पर मिथ्याज्ञानमूलक राग द्वेषादि दोष नाश को प्राप्त हो सकते हैं ॥ १ ॥ जिस के दोष क्षीण होगये उस को पुण्य पापरूप प्रवृत्ति उदय नहीं होती, प्रवृत्ति के न रहने से प्रवृत्ति के कार्य=शरीरादि नहीं उपजते ॥ २ ॥ और शरीर रहित आत्मा दुःख के धक्कों से नहीं छूवा जाता, फिर समस्त दुःखों का हट जाना मोक्ष कहाता है ॥ ३ ॥

आत्मा के अस्तित्व से मोक्ष पर्यन्त कह करके यह षष्ठाऽध्याय समाप्त हुवा। साथ ही प्रथम सूत्र में ग्रन्थारम्भ में जो त्रिविधदुःखाऽत्यन्तनिवृत्ति को पुरुषार्थ बताया गया था, उसी को सिद्ध करके पुरुषार्थ शब्द के साथ ग्रन्थकार कपिल मुनि जी ने इस दर्शन को समाप्त किया है ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते सांख्यदर्शन भाषानुवादे षष्ठोऽध्यायः

॥ ६ ॥

समाप्तं सांख्यदर्शनम्
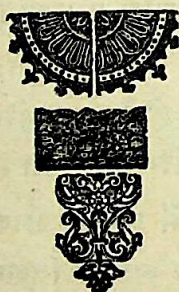
ओ३म्

अकारादि वर्णानुक्रम से

सांख्यसूत्रसूची

इस सूची में सूत्र से पहले वह संख्या छापी गई है जो कि प्रथमाऽध्याय से आरम्भ करके षष्ठाऽध्याय की समाप्ति (ग्रन्थ समाप्ति) तक १-५२६ तक एक सर्वग्रन्थमात्र की बड़ी संख्या मैंने चलाई है । इस संख्या में एक भूल होगई है जिस के लिये पृष्ठ १२१ पर नोट देकर पाठकों को बता दिया है कि १०० की भूल होगई है । परन्तु इस वर्णानुक्रम में वह अशुद्ध संख्या न छाप कर शुद्ध संख्या ही छापी गई है । पाठक अपने २ पुस्तक में सूत्र १९७ से आगे जो केवल ९८ छप कर ३१४ तक १०० की भूल छपती गई है, उसे क़लम से ठीक बनालेंगे तौ इस सूची के छपे पते पर ठीक सूत्र मिलेगा ॥

इस से आगे अकारादि क्रम से सूत्र छापे गये हैं । सूत्र के आगे जो दो २ अङ्क हैं, उन में पहला अध्यायाङ्क है, दूसरा सूत्रसंख्याङ्क है । प्रत्येक अध्याय के सूत्र की छपी संख्या पर वह २ सूत्र अवश्य मिल जायगा ॥ तु० रा०

अ

सं०	सूत्रपाठ	अ०	सू०
१०५	अकर्त्तुरपि फलोपभोगो०	१	१०५
२६६	अकार्य्यत्वेऽपि तद्योगः०	३	५५
६०	अचाक्षुषाणामनुमानेन०	१	६०
२७०	अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चे०	३	५९
२२५	अणुपरिमाणं तत्कृतिश्रुतेः	३	१४
५३	अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे	१	५३
१८७	अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रा०	२	२३
४६१	अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृत०	६	५
४७१	अत्रापिप्रतिनियमोन्वय०	६	१५
१	अथ त्रिविधदुःखात्यन्त०	१	१
५१७	अदृष्टद्वारा चेदसंबद्धस्य०	६	६१
३०	अदृष्टवशाच्चेत्	१	३०
५२१	अदृष्टोद्भूतिवत्समानम्	६	६५
७०	अधिकारित्रैविध्यान्न नि०	१	७०
४७८	अ० ,, ,,	६	२२
२८७	अधिकारिप्रभेदान्न नियमः	३	७६
१४२	अधिष्ठानाच्चेति	१	१४२
१७७	अध्यवसायो बुद्धिः	२	१३
३१६	अध्यस्तरूपोपासनात्पा०	४	२१
५१६	अनधिष्ठितस्य पूतिभाव०	६	६०
४६८	अनादिरविवेकोऽन्यथा०	६	१२

च

छ

ज

त

प

ब

भ

म

य

OM

Sankhya Darshan

By

KAPILA MUNI

AND HINDI COMMENTARY

BY

P. TULSI RAM SWAMI,

Commentator on Sama-Veda,

Hindi Translator of Manu-Smriti

and Editor Veda-Prakasha

Monthly Paper

Meerut

Price Re. 1